संपादक
विश्वनाथप्रसाद मिश्र
सहायक
शिवनाथ

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५१—अंक ४ [नवीन संस्करण] पौष विक्रम-सं० २००३

'छिताई-चरित'

श्री बटेकृष्ण बी० ए० (आनर्स), एम० ए०

(२)

ऐतिहासिक सत्यता

छिताई की कथा को ऐतिहासिक मानने के बहुत से प्रमाण हैं। इसमें वर्णित प्रधान व्यक्ति, प्रमुख स्थान तथा घटनाएँ सभी ऐतिहासिक हैं। विवरण का अधिकांश इतिहास से मिलता है। देवगिरि पर अलाउद्दीन का पहला आक्रमण संवत् १३५१ वि० में हुआ था। इतिहासकारों का कहना है कि अलाउद्दीन को यह युद्ध बहुत परिश्रम से जीतना पड़ा। उसे तरह तरह की अफवाहें फैलानी पड़ीं। रामदेव और उसके पुत्र शंकरदेव से अलग अलग दो बड़े बड़े युद्ध लड़ने पड़े, इस प्रकार वह बड़े कौशल से देवगिरि जीत पाया।[1] इस युद्ध के संबंध में कथाकारों का क्या मत है इसे ठीक ठीक बताना कठिन है। दोनों उपलब्ध हस्तलेख इस स्थान तक त्रुटित हैं। 'छिताई वार्ता' का यह विवरण कि जब राजा रामदेव की प्रजा मुसलमानों से संत्रस्त होकर उसके पास गई तब उसने मंत्री को समाचार लाने भेजा—इतिहास से पूर्णरूपेण समर्थित है। प्रसिद्ध इतिहासकार किंकेड और पारसनीस कहते हैं कि मुसलमानी आक्रमण की

१—सी० ए० किंकेड और डी० बी० पारसनीसकृत ए हिस्ट्री आफ़ दि मराठा पीपुल, प्रथम भाग, षष्ठ अध्याय, पृष्ठ ४०-४१।

खबर सबसे पहले भोल किसानों ने ही रामदेव को दी।[1] रामदेव ने इस आक्रमण का सामना कैसे किया, इसका कोई वर्णन इन कथाओं में नहीं है। 'छिताई वार्ता' का संक्षेप देखने से तो यही धारणा होती है कि रामदेव ने कोई युद्ध नहीं किया, डरकर चुपचाप संधि कर ली। यह इतिहास के सर्वथा विपरीत है। उसके वर्णन में एक विलक्षणता यह दिखाई देती है कि उस समय तक अलाउद्दीन दिल्ली का बादशाह हो चुका था। उसमें लिखा है कि विषम स्थिति देखकर रामदेव ने यही निश्चय किया कि शीघ्र से शीघ्र सुलतान के पास दिल्ली पहुँच जाऊँ। वह निसुरत खाँ के अधीनस्थ समुद्र-तट के राजाओं से मिलकर चटपट दिल्ली पहुँचा और उलु खाँ की मार्फत सुलतान अलाउद्दीन को लाख टंका ('संक्षेप' में रुपए लिखा है) भेंटकर संधि कर ली। इतिहास के अनुसार न तो तब तक अलाउद्दीन दिल्ली का बादशाह ही हुआ था और न रामदेव ही उसके दरबार में दिल्ली गया था। यदि कथाकार के वर्णन को इतिहास में उल्लिखित अलाउद्दीन के देवगिरि पर हुए दूसरे आक्रमण के विवरण से मिलाएं तो कुछ संगति अवश्य बैठती है; क्योंकि अलाउद्दीन दूसरे आक्रमण तक दिल्ली-सम्राट् भी हो चुका था और इसी के बाद रामदेव भी दिल्ली गया था। एक लाख टंका की बात भी दूसरे युद्ध से ही संबद्ध है। कथा में रामदेव की ओर से एक लाख टंके की भेंट की बात कही गई है और इतिहास में अलाउद्दीन की ओर से।[2] कथाकार अलाउद्दीन के यहाँ रामदेव के जिस सम्मान की चर्चा करते हैं वह इतिहास के अनुसार दूसरे आक्रमण के बाद ही हुआ था।

कथाकार ने रामदेव के संधि करने को तुरत प्रस्तुत हो जाने के लिये यह तर्क दिया है कि यदि निसुरत खाँ हार गया तो उसकी सहायता के लिये दिल्ली से अलाउद्दीन आ पहुँचेगा और सर्वनाश हुए बिना न रहेगा। इसे यदि पारसनीस के इस कथन से मिलाएं कि देवगिरि पहुँचकर अलाउद्दीन ने यह प्रचारित किया कि मेरी सहायता के लिये दिल्ली से सेना आ रही है जिसका आतंक मराठों पर छा गया,[3] तो दोनों में कुछ साम्य अवश्य दिखाई देता है।

१—वही, पृष्ठ ४०।

२—जियाउद्दीन बरनीकृत तारीखे-फीरोजशाही, पृष्ठ २००।

३—किंकेड और पारसनीसकृत ए हिस्ट्री आव् मराठा पीपुल, प्रथम भाग, छठा अध्याय, पृष्ठ ४०।

कथाकार ने आक्रमण से रामदेव के प्राण पाने के जो जो उपाय बताए हैं उनमें सुलतान के पास दिल्ली जाना या कन्या का विवाह कर उससे मैत्री स्थापित कर लेना भी है। किंतु पूरी कथा देखने से ज्ञात होता है कि प्रथम आक्रमण के समय सुलतान को रामदेव की कन्या का पता ही न था। यही कारण है कि काव्यानुरोध से कथाकार ने प्रथम युद्ध में अला-उद्दीन का देवगिरि जाना नहीं कहा केवल निसुरत खाँ का ही जाना कहा, जब कि इतिहास के अनुसार प्रथमाक्रमण के समय अलाउद्दीन और निसु-रत खाँ दोनों देवगिरि गए थे। जान पड़ता है कि कथा में दोनों आक्रमणों की बातों का घालमेल हो गया है।

कथा के अनुसार दूसरा आक्रमण विशेष महत्त्वशाली है। अला-उद्दीन छिताई का रूप चित्र में देख मोहित हो गया और उसे प्राप्त करने के लिये उसने देवगिरि पर चढ़ाई की। इतिहास ने इस युद्ध को विशेष महत्त्व नहीं दिया है। उसने इस आक्रमण का कारण राजा रामदेव द्वारा कई वर्षों से राज-कर न चुकाना बताया है। इसपर सम्यक् विचार करने से निष्कर्ष यही निकलता है कि कर न चुकाना राजनीतिक बहाना मात्र था। बरानी लिखता है कि (संवत् १३६५ वि॰ में) अलाउद्दीन के राज्य में चारों ओर सुख और शांति निवास कर रही थी। सुलतान को कोई चिंता नहीं रह गई थी। तो भी दूसरे देशों के जीतने तथा असंख्य हाथियों और प्रभूत धन-राशि के संचित करने की अभिलाषा अभी शेष थी। अतः उसने एक विशाल वाहिनी का संघटन किया और मलिक नायब काफूर हजारदिनारी को उसका सेनापति बनाकर बहुत से सरदारों के साथ दक्षिण की ओर भेजा; आरिजे-ममालिक ख्वाजा हाजी को भी सेना के प्रबंध के लिये साथ कर दिया। अलाउद्दीन के बादशाह होने के बाद से आज तक इतनी विशाल सेना दक्षिण नहीं गई थी। दैवयोग कि इधर रामदेव ने विद्रोही होकर कई वर्ष से वार्षिक कर भी नहीं दिया था।[1] इसलिये आक्रमण का उपयुक्त बहाना भी मिल गया। इससे अलाउद्दीन का वास्तविक इरादा दक्षिण लूटने का ही सिद्ध होता है। यह बात तब और स्पष्ट हो जाती है जब वारंगल, चँदेरी आदि दक्षिण के प्रसिद्ध राज्यों को उसकी सेना ध्वस्त करती है। इसके लिये इतिहास छोटा या बड़ा कोई तर्क नहीं देता। ऐसी स्थिति में कथा का तर्क अवश्य विचारणीय है। चित्तौड़ की पद्मिनी या पद्मावती और गुजरात की कमलादेवी तथा देवलदेवी के वृत्तांतों से मिला देखिए।

१—तारीखे-फीरोजशाही, पृ॰ ३००।

यह तो इतिहास सिद्ध ही है कि गुजरात के राय कर्ण की स्त्रियाँ तथा पुत्रियाँ पकड़कर दिल्ली भेज दी गई थीं [१]। अलाउद्दीन के बहुत सी बेगमें थीं, यह भी प्रमाणित है। बरनी लिखता है कि उसे प्रति वर्ष तीन या चार संतानें होती थीं। हिंदी में हम्मीर-विषयक काव्यों में अलाउद्दीन की मरहट्टी बेगम का उल्लेख है। उनमें इस मरहट्टी बेगम का कोई और विवरण नहीं मिलता। केवल जोधराजकृत 'हम्मीर रासो' में उसका नाम 'रूपविचित्रा' कहा गया है।[२] क्या यह मरहट्टी बेगम छिताई थी?

देवगिरि के राजा रामदेव के कन्या अवश्य थी, पर क्या एकाधिक कन्याएँ थीं—पता नहीं, प्रयोजन भी नहीं। जियाउद्दीन बरनी लिखता है कि संवत् १३७५ वि० में दिल्ली के सुलतान कुतुबुद्दीन ने देवगिरि जीतकर रामदेव के जामाता हरपालदेव को (जो उस समय वहाँ का राजा था) मरवा डाला और उसकी खाल खिंचवाकर प्रदर्शन के लिये उसे किले के फाटक पर टँगवा दिया।[३] अब्दुल्ला वस्साफकृत 'तज्जियातुल् अंसार' में लिखा है कि बुद्धिमान् राय (रामदेव) ने प्राण-रक्षार्थ अपनी कन्या का विवाह सुलतान से कर दिया।[४] 'तज्जियातुल् अंसार' की रचना संवत् १३५७ से १३८५ वि० के बीच हुई जिसमें अलाउद्दीन का शासन-काल भी आ जाता है।

संवत् १६५३ वि० में मयूरगिरि के राजा नारायणशाह की आज्ञा से रुद्र कवि ने संस्कृत में 'राष्ट्रौढवंश महाकाव्य' रचा। उसके आरंभ में उसने लिखा है कि मयूरगिरि के राठौड़ कन्नौज के राठौड़ों के ही वंशज हैं। कन्नौज के राजा सिंहण के चार पुत्र थे। सिंहण के बाद बड़ा लड़का जालराज तो कन्नौज का स्वामी हुआ और शेष तीनों हरिहर, यशस्वान् और सोहड़ गुजरात के राजा जयसिंह की सेवा में चले आए। हरिहर को भगवान् शिव की कृपा से ईडर का किला मिल गया और वह वहीं बस गया। पर यशस्वान् और सोहड़ कन्नौज लौट गए। वे वहाँ से विजय के लिये फिर निकले और दक्षिण ही आए। सोहड़ ने पिप्पलग्राम जीतकर वहाँ राज्य स्थापित कर लिया और यशस्वान् देवगिरि के राजा रामदेव की कन्या से विवाह करके देवगिरि में ही रहने लगा। देवगिरि के किले में

१—जियाउद्दीन बरनीकृत तारीखे फीरोजशाही, पृष्ठ १६३।

२—मैं धरनी पतिसाह की, रूपविचित्रा नाम॥ २१९॥—पृष्ठ ४०।

३—तारीखे-फीरोजशाही, पृष्ठ २१५।

४—पृष्ठ ४०।

रहते हुए उसने तलकुंकण ग्राम की रक्षा की।[1] महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने लिखा है कि कन्नौज के जयचंद्र के पुत्र सीहा का लड़का आस्थान दक्षिण चला गया और बहुत से देश जीतकर अपने अधीन कर लिए।[2] आस्थान और यशस्वान् एक ही जान पड़ते हैं।

पर कथाकारों ने सौरसी या सुरसी को रामदेव का दामाद कहा है और उसे द्वारसमुद्र के राजा भगवान नारायण का पुत्र बताया है। इतिहास को भगवान नारायण[3] नाम या उपाधि के किसी राजा का पता नहीं। उसके अनुसार रामदेव के समय (संवत् १३२८-१३६५ वि०) द्वारसमुद्र में द्वितीय वीर नरसिंह तथा उसके बाद उसका पुत्र वीर बल्लाल या तृतीय बल्लाल (सं० १३४८-१३९८ वि०) राज्य करता था। द्वितीय वीर नरसिंह के पिता सोमेश्वर से रामदेव के पिता कृष्ण का युद्ध हुआ था। तात्पर्य यह कि देवगिरि और द्वारसमुद्र के यादवों में कभी हार्दिक मैत्री नहीं थी।[4] दूसरे, अलाउद्दीन ने जब द्वारसमुद्र पर आक्रमण किया था तब रामदेव ने अलाउद्दीन की सहायता की थी। यदि रामदेव की कन्या द्वारसमुद्र में ब्याही होती तो वह ऐसा न करता। कथा ने बताया है कि दिल्ली से देवगिरि लौटते सौरसी चंद्रनाथ के आश्रम में रुका। उसे विदा करते हुए चंद्रनाथ ने यह आशीर्वाद दिया कि तेरा पुत्र 'रावल' नाम से प्रसिद्ध होगा जिससे तेरा वंश चलेगा। रावल नाम का भी द्वारसमुद्र में कोई राजा नहीं हुआ और न यह किसी की उपाधि ही रही।

मेवाड़ के राजवंशवाले पहले अपने को रावल लिखते थे। इस राजवंश के तेंतीसवें राजा रणसिंह या करणसिंह की दो शाखाएँ चलीं—(१) रावल और (२) राणा। रावल शाखा में आगे चलकर इकतालीसवें और बयालीसवें राजा रावल समरसिंह और रावल रत्नसिंह हुए जिन्होंने अलाउद्दीन से युद्ध किए। समरसिंह ने संवत् १३५६ वि० में अलाउद्दीन के भाई उलुग खाँ को मेवाड़ पर चढ़ाई करने के समय हराया था।[5]

१—श्रीसोहडाग्रप्रभवो यशस्वान्स रामदेवस्य सुतां विवाह्य।
दुराक्रमे देवगिरौ निषण्णो जुगोप पल्लीं तलकुङ्कणाख्याम् ॥१०॥ तृतीय सर्ग।

२—ओझा जी द्वारा संपादित टाडकृत राजस्थान (द्वितीय संस्करण) प्रथम खंड, सातवें प्रकरण का टिप्पण, पृष्ठ ३४६।

३—पता लगा है कि भगवान नारायण द्वारसमुद्र का राजदूत था जिसे मलिक काफूर से संधि करने के लिये भेजा गया था।

४—रशीदुद्दीनकृत जामिउत्-तवारीख, पृष्ठ ७२-७३।

५—टाडकृत राजस्थान का पूर्वोक्त संस्करण, पृष्ठ २०१।

रावल रत्नसिंह की ही रानी पद्मावती के लिये अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की थी। समरसिंह और रत्नसिंह दोनों ही रामदेव के समकालीन थे। रामदेव का शासन-काल संवत् १३२८ से १३६४ वि० है और समरसिंह तथा रत्नसिंह का क्रमशः संवत् १३३०-१३५६ वि० तथा संवत् १३६० वि० है। किंतु इतिहास मेवाड़ के राजवंश से यादवों के संबंध की बात पर मौन है।

इतिहास के अनुसार द्वारसमुद्र और मेवाड़ दोनों में से किसी राजघराने का संबंध देवगिरि से नहीं था। ऐसी स्थिति में दो ही बातें हो सकती हैं। कथाकारों ने या तो भ्रम से द्वारसमुद्र के राजाओं को यादव होने के नाते देवगिरि से संबद्ध कह दिया और प्रसिद्ध रावल समरसिंह (समरसी, सँवरसी, सौंरसी) को वहाँ का राजकुमार मान लिया; या सौंरसी कोई और व्यक्ति हो जिसका इतिहास को पता नहीं। सौंरसी के कुल और स्थान के विषय में संदेह का कारण एक और है। जब सौंरसी देवगिरि के किले से सैन्य-संघटनार्थ जाने लगा तब अलाउद्दीन को उसके रणथंभौर जाने का संदेह हुआ; पर उसने राघवचेतनादि सेनाध्यक्षों से विचार-विमर्श करते समय उसके द्वारसमुद्र जाने की बात कही। कथा दोनों अवसरों पर एक ही नाम का उल्लेख क्यों नहीं करती? क्या अलाउद्दीन का भ्रम दिखाने के लिये? या इसे ही भ्रांति है?

जोधपुर के राठौड़ भी अपने को महारावल लिखते हैं। ओझा जी ने लिखा है कि 'दक्षिण के राठौड़ों के कितने एक ताम्रपत्रों में इनका यादव-वंशी होना लिखा है, और ऐसा ही हलायुध पंडित अपनी 'कविरहस्य' नामक पुस्तक में लिखता है।'[1] तब तो देवगिरि के यादव राजा रामदेव की कन्या का संबंध यशस्वान् राठौड़ से संभव है, जैसा 'राष्ट्रौढ़वंश महाकाव्य' बतलाता है। आस्थान या यशस्वान् के भाई सीहा के वंशजों के पास जैसे जोधपुर, बीकानेर, ईडर, रतलाम आदि रियासतें हैं वैसे ही आस्थान या यशस्वान् के वंशजों का भी कोई ठौर-ठिकाना होना चाहिए। रुद्र कवि ने मयूरगिरि रियासत इसी के वंशजों की बतलाई है।

इतिहासोक्त हरपालदेव का छिताई से विवाह संभाव्य है, क्योंकि रामदेव के बाद इसी ने दामाद होने के नाते अपने को देवगिरि का स्वामी घोषित किया। इतिहास इसके कुल और स्थान का कोई उल्लेख नहीं करता। द्वारसमुद्र में हरपालदेव नाम का कोई राजा नहीं हुआ। कन्नौज

१—ओझा जी द्वारा संपादित टाडकृत राजस्थान, पृष्ठ २२४।

के राठौड़ों में, जिनका वंशज आस्थान या यशस्वान् था, पालांत या देवांत नाम होते थे, जैसे चंद्रदेव, मदनपाल। तो क्या हरपाल यशस्वान् एक ही हैं? रुद्र कवि ने लिखा है कि यशस्वान् ने दुराक्रम के समय देवगिरि के किले में रहते हुए तलकुंकण ग्राम की रक्षा की। यह दुराक्रम यदि अलाउद्दीन का मानें तो कथा जिस सौंरसी का वहाँ विद्यमान होना लिखती है वह इससे मिल जाता है। क्या एक ही व्यक्ति के नाम हरपालदेव, आस्थान, यशस्वान् और सौंरसी थे अथवा केवल नाम की भ्रांति है। अभी इतना ही कहा जा सकता है कि कथा की घटना का समर्थन संस्कृत का 'राष्ट्रौढ़वंश महाकाव्य' करता है।

अब देवगिरि पर आक्रमण करने में अलाउद्दीन के मंतव्य का विचार कीजिए और खोज देखिए कि रामदेव की कन्या पकड़कर दिल्ली भेजी गई या नहीं। अब्दुल्ला वस्साफ के कथन से प्रमाणित है कि रामदेव ने स्वरक्षा के लिये कन्या का विवाह अलाउद्दीन से कर दिया। पर उसके अनुसार यह बात पहले आक्रमण की है. दूसरे आक्रमण की उसने चर्चा ही नहीं की। क्या उसने संक्षेप की प्रवृत्ति के कारण दो युद्धों की बातों का घाल मेल कर दिया? बरनी लिखता है कि मलिक काफूर रामदेव तथा उसके स्त्री-बच्चों को बंदी बनाकर दिल्ली ले गया और वहाँ छह महीने तक रोक रखने के बाद उन्हें ससंमान बिदा कर दिया। अलाउद्दीन एक तो किसी पर दया दिखाना जानता नहीं था दूसरे उसकी दया को छह महीने तक कौन सी बात दबाए रही। कोई राजनीतिक बात इसके मूल में हो नहीं सकती। अतः अलाउद्दीन ने निश्चय ही कुविचार से देवगिरि पर आक्रमण किया था। जब छिताई उसके यहाँ आई तब उसकी अविचल पति-भक्ति को वह डिगा न सका। रामदेव भी इस बीच उसकी संमान-रक्षा का सतत प्रयत्न करता रहा, जिससे अलाउद्दीन ने विचार बदल दिया। उसने रामदेव को 'रायरायान' की पदवी और एक लाख टंका देकर पूर्ण राजसी संमान के साथ सपरिवार बिदा किया।[1] उसे उसका राज्य तो लौटा ही दिया, गुजरात के समुद्र के किनारे का नवसारी का इलाका भी सौंप दिया।[2] अलाउद्दीन जैसा द्रव्य पिशाच एक लाख टंका भला किसी को क्या देता! रही उसकी विलासिता की बात, सो उसके समकालीन मियाँ अमीर खुसरो की 'आशिका' ही प्रमाण है। माना कि उसमें गणना आदि

१—जियाउद्दीन बरनीकृत तारीखे फीरोजशाही, पृष्ठ २००।

२—किंकेड और पारसनीसकृत ए हिस्ट्री आव् दि मराठा पीपुल, प्रथम भाग, छठा अध्याय, पृष्ठ ४५।

की कुछ भयंकर भूलें हैं;[1] पर इसी से सारी कृति को असत्य ठहरा देना उचित नहीं। देवलदेवी की वय आदि अनुमित होगी। इसी से पुराने सभी इतिहासकार देवलदेवी की कथा को सत्य मानते हैं।

किंकेड और पारसनीस ने देवलदेवी को भी देवगिरि के आक्रमण का कारण माना है। पर गुजरात पर आक्रमण के दस वर्ष बाद देवगिरि पर चढ़ाई क्यों ?

किसी को देवलदेवी और छिताई की कथाओं के कुछ साम्य से उनके एक होने का संदेह हो सकता है। संदेह के दो ही कारण प्रधान होंगे-

(१) हिंदू-बेगम की प्रेरणा से छिताई के लिये प्रयत्न करना।

(२) दर्शन को जाते समय मार्ग में छिताई का पकड़ा जाना।

पहले के संबंध में कहना यह है कि देवलदेवी और कमलावती या कमलादेवी में पुत्री और माता का संबंध था। अपत्य प्रेम की प्रेरणा स्वाभाविक है। पर हैमति और छिताई से ऐसा कोई संबंध नहीं, क्या मोह न नारि नारि के रूपा' का भी स्मरण दिलाया जाय ? खुसरो के अनुसार देवलदेवी देवगिरि में ब्याही जाने को थी, तब तो आक्रमण रामदेव की पुत्रवधू के लिये होता, पुत्री के लिये नहीं।

रही दूसरी बात ! खुसरो के अनुसार तो गिरफ्तारी के समय देवलदेवी देवगिरि लाई जा रही थी, इधर छिताई उस समय देवगिरि में ही थी। दोनों की कथाओं के परिणाम में तो साम्य का लेश भी नहीं। कहाँ देवलदेवी का विवाह खिज्र खाँ से और कहाँ छिताई का न्यास राघवचेतन के यहाँ और दैनिक व्यय के लिये भारी रकम का निश्चय ! विवाहिता और अविवाहिता का भेद ऊपर से !

'आशिका' में अमीर खुसरो ने गुजरात पर दो बार आक्रमण होना बताया है। किंतु इतिहास से ऐसा प्रमाणित नहीं होता, स्वयं खुसरो लिखित 'तारीखे-अलाई' से भी नहीं। राय कर्ण के भाग जाने के बाद फिर से गुजरात जीतने का भी कोई उल्लेख इतिहास में नहीं। जान पड़ता है कि खुसरो ने प्रथम आक्रमण के ही दो भाग कर दिए हैं—(१) राय कर्ण को जीतना और (२) तत्पश्चात् हुए विद्रोह को दबाना। राय कर्ण के भाग जाने के बाद कुछ सैनिकों ने लूट में हिस्सा बँटाने के लिये विद्रोह

१—(क) नागरीप्रचारिणी पत्रिका (नवीन संस्करण) भाग ११, अंक ४ में श्री जगनलाल गुप्त लिखित 'देवलदेवी और खिज्रख', बारहवाँ निबंध, पृष्ठ ४०७।

(ख) शाहपूरशाह होरमसजी होदीवालाकृत स्टडीज् इन इंडो-मुसलिम हिस्ट्री, सन् १९३९ ई० का संस्करण, पृष्ठ ३६८-३७४।

किया, जिसे नुसरत खाँ ने क्रूरता से दबाया। विद्रोह में नुसरत खाँ का भाई भी मारा गया था। विद्रोह का समाचार जब दिल्ली पहुँचा तब उसे दबाने के लिये कड़ी से कड़ी काररवाई करने का आदेश मिला। नुसरत खाँ ने भाई का बदला लेने को जो कुछ किया वह इतिहास में बेजोड़ है। पुरुषों का बदला स्त्रियों और बच्चों से लिया गया। स्त्रियों की बेइज्जती में क्या क्या नहीं किया गया। उसका वर्णन करने में उसके सजातीय इतिहासकों ने भी लज्जा और लेखनी के कलुषित होने का अनुभव किया है। संभव है इस विद्रोह को ही उसने दूसरा युद्ध समझ लिया हो। देवगिरि पर हुए दूसरे आक्रमण के समय उलुग खाँ और नुसरत खाँ मर चुके थे। पर खुसरो ने इन दोनों व्यक्तियों का उस समय वहाँ रहना बताया है। कथा ने उलुग खाँ के जीवित रहने का संकेत तो दिया है, किंतु उसका दिल्ली में होना कहा है। उसमें नुसरत खाँ का उस अवसर पर उल्लेख नहीं। फिर 'छिताई कथा' और 'आशिका' को एक कैसे करें।

इतिहास को रामदेव की कन्या के नाम का ज्ञान नहीं। कथा ने उसे छिताई नाम से पुकारा है। यही नाम 'पद्मावत', 'वीरसिंहदेवचरित' आदि में भी है। जान कवि[1] ने इसे 'छीता' कहा है, जो छिताई का संक्षिप्त रूप है। इतिहास में छिताई से मिलते जुलते 'खिताई' नाम के नगर का उल्लेख है। रशीदुद्दीन 'जामिउत् तवारीख' में लिखता है कि 'खिताई' होकर माबार से (इसकी राजधानी द्वारसमुद्र है) जो सड़क आई है वह काबुल तक जाती है।[2] 'ख' और 'छ' का मूल संस्कृत 'क्ष' तो नहीं है ! संस्कृत 'क्षिता' (पृथ्वी)[3] से इसका कोई संबंध तो नहीं ! 'छीता' तो उसके बहुत निकट है। 'आई' का योग तो बहुत हो जाया करता है। कन्हाई, मथाई इसके प्रमाण हैं। कर्णाटक-इतिहास के एक विशेषज्ञ से पता चला है कि द्वारसमुद्र के तृतीय वीर बल्लाल की रानी का नाम चिक्काइ या चिक्काइताइ था, जो तुलुवा राजवंश की कन्या थी।

१—इसकी रचना का विशेष ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है। इसने 'छीता' के प्रेमी का नाम 'राम' लिखा है और उसे उत्तर का कोई राजकुमार बताया है। काशी नागरीप्रचारिणी सभा में सुरक्षित खोज-विवरण, संख्या २६, सन् १९४४ (अप्रकाशित)।

२—सर एच० एम० इलियट तथा प्रोफेसर जान डाउसनकृत हिस्ट्री आव्-इंडिया ऐज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियंस, प्रथम भाग, पृष्ठ ७२।

३—आप्टे का कोश, पृष्ठ ३८५।

कथा को इतिहास का ध्यान बहुत था। नायक गोपाल[1] ऐतिहासिक व्यक्ति है। राघवचेतन (जो 'पदमावत' में भी है) ऐतिहासिक व्यक्ति जान पड़ता है। यही मलिक नायब काफूर हजारदीनारी तो नहीं है! गुजरात-विजय में और लोगों के साथ यह गुलाम भी खंभात से पकड़कर दिल्ली भेजा गया था, इसकी सुंदरता ने अलाउद्दीन को मोहित कर लिया था।[2] फरिश्ता लिखता है कि यह खंभात में एक हजार दीनार में मोल लिया गया था, इसी से इसे हजारदीनारी कहते हैं। गुजरात-विजय के बाद ही अलाउद्दीन ने रणथंभौर और चित्तौड़ पर आक्रमण किए थे। राघवचेतन इसका पुराना नाम रहा होगा! राघवचेतन को मलिक काफूर से मिला देने पर देवगिरि पर हुए दूसरे आक्रमण की प्रामाणिकता भी सिद्ध हो जाती है। जायसी ने राघवचेतन की जो कल्पना की है उसमें कदाचित् गुजरात के राय कर्ण के मंत्री माधव की कथा भी जुड़ गई है। अलाउद्दीन के समकालीन जिनप्रभसूरि ने अपने 'तीर्थकल्प' में लिखा है कि 'विक्रम संवत् १३५६ (ई० स० १२९९) में सुलतान अल्लावदीण (अलाउद्दीन खिलजी) का सबसे छोटा भाई उलु खाँ (उलग खाँ), [कर्णदेव के] मंत्री माधव की प्रेरणा से ढिल्ली (दिल्ली) नगर से गुजरात को चला।'[3] किंकेड और पारसनीस ने इस विवरण में इतना और जोड़ दिया है कि माधव की पत्नी के रूप पर मोहित होकर कर्णदेव ने, जब माधव अनहिलपत्तन में नहीं था, उसीके भाई को मारकर उसे अपने अधिकार में कर लिया। माधव ने लौटकर जब यह सब देखा तब दिल्ली आकर अलाउद्दीन को गुजरात पर आक्रमण करने को प्रेरित किया।[4] जायसी का राघवचेतन द्रव्य-लोभ से अलाउद्दीन को प्रेरित करता है। तो क्या 'माधव' ही नाम बदलकर 'राघव' बन बैठा! मंत्री दोनों ही हैं। राघवचेतन के आचरण में हिंदुत्व का लेश भी नहीं। अलाउद्दीन के शासन में हिंदू को सेनापतित्व! मलिक काफूर तो पहले हिंदू था बाद में मुसलमान हुआ।

१—यह अलाउद्दीन के समय में बहुत प्रसिद्ध गवैया हो गया है। नागरीप्रचारिणी पत्रिका (नवीन संस्करण), भाग २, संवत् १९७८, श्री ब्रजरत्नदास-लिखित 'खुसरो की हिंदी कविता' नामक लेख, पंद्रहवाँ निबंध, पृष्ठ २७८।

२—जियाउद्दीन बरानीकृत तारीखे-फीरोजशाही, पृष्ठ १६३।

३—पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझाकृत उदयपुर राज्य का इतिहास, पृष्ठ ४७९।

४—ए हिस्ट्री आव् दि मराठा पीपुल, प्रथम भाग, पृष्ठ ४३।

समष्टि में 'छिताई-चरित' प्रेम-काव्य होते हुए भी ऐतिहासिक महत्त्व से पूर्ण है। इसकी सारी प्रमुख घटनाएँ और व्यक्ति इतिहास के विवरण से मिलते हैं। कर्ता ने दूसरे कथाकारों से अपनी कथा में जहाँ जो अंश बढ़ाया है उसका स्पष्ट उल्लेख तक कर दिया है, जिससे रचनाकार की ईमानदारी का पता चलता है। इतिहास से जो कहीं कहीं विरोध दिखाई देता है वह लोक-प्रचलित रूप के कारण। मूल में यह कथा पूर्ण-रूपेण सत्य है। यदि खुसरो की 'आशिका' सत्य मानकर इतिहास में जोड़ी जा सकती है तो छिताई की कथा क्यों नहीं? हिंदी-काव्यों की कथाओं को कपोल-कल्पना मान लेने से मुसलमानी इतिहास में अधूरापन रह गया है।[1]

१– इसमें सर एच० इलियट तथा प्रोफेसर जान डाउसनकृत हिस्ट्री आव् इंडिया ऐज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियंस नामक ग्रंथ के आधार पर ही मुसलमान इतिहासकारों का उल्लेख किया गया है।

'पीठमर्द' और 'छाया नाटक'

श्री बलदेवप्रसाद मिश्र

पीठमर्द

'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' (वर्ष-५०; अंक-३-४) में 'कुछ साहित्यिक शब्दों का व्युत्पादन' नामक लेख में 'पीठमर्द' पर मेरी एक टिप्पणी है। उसमें यह सूचना भी संनिविष्ट कर ली जाय।

'ब्रह्मांड पुराण' के अंतर्गत 'ललितोपाख्यान' (अध्याय ३०) में कामदेव के महादेवजी को जीतने आने का वर्णन है। काम के साथ उसके कुछ सहायक भी थे—

वसन्तेन च मित्रेण सेनान्या शीतरोचिषा।
रागेण पीठमर्देन मन्दानिलरयेण च ॥६८॥
पुंस्कोकिलगलस्वान काहलीभिश्च संयुतः ।६९

(काम महादेव के आश्रम में) अपने मित्र वसंत, सेनापति चंद्र, पीठमर्द राग और मंदानिल तथा पुंस्कोकिल की अविच्छिन्न पंचम ध्वनि रूप 'काहली' के साथ (गया)।

'राग' को पीठमर्द मानना बहुत अद्भुत सूझ है। यह पीठमर्द साहित्य की बँधी परिभाषा के भीतर नहीं है, पर कितना सुकुमार एवं काव्योचित है! 'काम' स्थूल था, वह नष्ट हो गया परंतु 'राग' पार्वती के नेत्रों में दुबककर, महादेव जी के नयनों से होता हुआ उनके चित्त में प्रविष्ट हो गया और अशरीरी 'काम' की शक्ति को उसने अक्षुण्ण बनाए रखा!

ऐसा प्रतीत होता है कि 'काहली' कोई वाद्य था, जिसे जय-यात्रा या युद्ध के अवसर पर बजाया जाता था। यह संभवतः नगाड़े जैसा वाद्य रहा होगा। 'ब्रह्मांड पुराण' (अध्याय १७) में ही इसका उल्लेख है—

निर्याणसूचनकरी दिवि दध्वान काहली

देवता दैत्यों से लड़ने निकले। उनके निकलने की सूचना देनेवाली 'काहली' आकाश में बज उठी।

'दध्वान' के आधार पर ही 'काहली' को नगाड़े जैसा वाद्य माना गया है।

छाया नाटक

छाया नाटक की उत्पत्ति कैसे ? नाट्यशास्त्र के संस्कृत के आधुनिक ग्रंथों में छाया नाटक या तत्सदृश कोई वस्तु नहीं है; परंतु उक्त शास्त्र के सबसे प्राचीन ग्रंथ भरतकृत 'नाट्यशास्त्र' में यह है। 'आहार्याभिनय' के संबंध में भरत मुनि कहते हैं—

आहार्याभिनयो नाम ज्ञेयो नेपथ्यजो विधिः।
.. .. ॥२॥
चतुर्विधं तु नेपथ्यं पुस्तोऽलङ्कार एव च।
तथाङ्गरचना चैव ज्ञेयः सञ्जीव एव च ॥४॥
पुस्तस्तु त्रिविधो ज्ञेयो नानारूपप्रमाणतः।
सन्धिमो व्याजिमश्चैव चेष्टिमश्च प्रकीर्तितः ॥६॥
किलिञ्जवस्त्रचर्माद्यैर्यद्रूपं क्रियते बुधैः।
सन्धिमो नाम विज्ञेयो पुस्तो नाटक संश्रयः ॥७॥[1]

अर्थात् नेपथ्य विधि—वेशभूषा (रचना)—ही आहार्याभिनय है और वह चार प्रकार की है—(१) पुस्त, (२) अलंकार, (३) अंग-रचना तथा (४) संजीव। पुस्त तीन प्रकार का है—(१) संधिम, (२) व्याजिम तथा (३) चेष्टिम। वस्त्र, चर्म आदि वस्तुओं से 'बुध' लोग जो कृत्रिम रूप बनाते हैं (वस्त्र चर्मादि से मनुष्य, पशु, पक्षी आदि बनाते हैं) उसे 'संधिम' कहते हैं।

इन चारों नेपथ्यों की परस्पर अनुग्राहकता है, परंतु 'संधिम' की 'संजीव' से विशेष रूप से। 'सजीव' के संबंध में भरत मुनि लिखते हैं—

सञ्जीव इति यः प्रोक्तस्तस्य वक्ष्यामि लक्षणम् ॥१५१॥
यः प्राणिनां प्रवेशो वै स सञ्जीव इति स्मृतः।
चतुष्पदोऽथ द्विपदस्तथा चैवापदः स्मृतः ॥१५२॥

अर्थात् रंगमंच पर प्राणियों के प्रवेश को 'संजीव' कहते हैं। 'संधिम' और 'संजीव' की अनुग्राहकता यह है कि आवश्यकतानुसार वस्त्र, चर्मादि के कृत्रिम रूपों—अनुकरणों-का भी प्रवेश आवश्यक होता होगा। साधारणतया 'संधिम से छाया नाटक का कोई संबंध ज्ञात नहीं होता; परंतु वस्तुतः इसमें ही छाया नाटक का इंगित है।

ऊपर उद्धृत 'यद्रूपं क्रियते बुधैः' पर ध्यान दीजिए। इससे यह अनुमान तो सहज ही है कि जैसे आजकल नाटक-मंडलियों के लिये आवश्यक वस्तुएँ—दाढ़ी, मूँछ आदि—बनती और बिकती हैं वैसे ही पहले

१—अध्याय २३, काशी संस्कृत सीरीज संस्करण।

भी बनती और बिकती रही होंगी। इससे दूसरा अनुमान यह होता है कि कुछ 'बुधों' ने 'संधिम' का नए ढंग से विकास किया: उन्होंने 'संधिम की सहायता से नए प्रकार के नाटकों—छाया नाटकों का-सूत्रपात किया।

'यद्रूपं क्रियते बुधैः' बहुत ही काम का सूत्र है। छाया नाटकों को आजीविका बना लेनेवाले धीरे धीरे 'रूपोपजीवी' कहलाने लगे। 'रूपोपजीवन' का वास्तविक अर्थ क्या? 'महाभारत' के टीकाकार नीलकंठ 'रूपोपजीवन' की यह टीका कर गए हैं—

> रूपोपजीवनं जालमंडपिकेति दाक्षिणात्येषु प्रसिद्धं, यत्र सूक्ष्मं वस्त्रं व्यवधाय चर्ममयैराकारै राजामात्यादीनां चर्या प्रदर्श्यते।

अर्थात् दाक्षिणात्यों में रूपोपजीवन या जालमंडपिका प्रसिद्ध है। उसमें एक सूक्ष्म वस्त्र (परदा, पट) का व्यवधान किया जाता है (सामाजिकों के सामने एक परदा टाँगा जाता है) और (परदे के पीछे से) राजा, अमात्य आदि की चर्या दिखाई जाती है ('व्यवधाय' के बल पर 'परदे के पीछे से', यह संकेत लिया गया है।)।

अब तो 'संधिम' और 'संजीव' की परस्पर अनुग्राहकता और 'संधिम' में छाया नाटक का इंगित स्पष्ट हो गया होगा। आजकल के 'मैजिक लैन्टर्न शो' से छाया नाटक की कुछ तुलना हो सकती है। इस प्रकार के नाटक से मिलती जुलती एक चीज और भी है। गुजरात प्रांत की स्त्रियाँ माथे पर बक्स रखे घूमती रहती हैं और एकाध पैसा लेकर उसके भीतर के चित्र बच्चों को दिखाया करती हैं। उन्हें दिखलाते समय वे कहती चलती हैं—देखब भैया देखब, बंबई कलकत्ता देखब, आदि।

'कामसूत्र' कार वात्स्यायन ने भी एक प्रकार के 'आख्यानपट' का उल्लेख किया है।

बौद्धकालिक 'यमपट' भी यही वस्तु है। 'मुद्राराक्षस' में भी इसका उल्लेख है—

> तहिं जमपडं पसारिअ पटताकि गीआदि गाइदुम्।

'यमपट' नाम क्यों पड़ा। प्रारंभ में संसार की असारता दिखाने के लिये ही बौद्ध भिक्षु कुछ चित्र दिखाते थे, जिनके अंत में यमराज-सभा दिखाई जाती थी। 'मुद्राराक्षस' से ऐसा व्यक्त होता है। वहाँ 'निपुणक' नामक चर 'यमपट' लिये आता है और चाणक्य के शिष्य से उसका वार्तालाप होता है। उसी प्रसंग में निपुणक कहता है—मुझे भीतर जाने दो। मैं तुम्हारे स्वामी के सामने यमपट फैलाऊँ और उन्हें सदाचार की शिक्षा दूँ। अतः स्पष्ट है कि 'यमपट' बौद्धों का सदाचार-शिक्षा का साधन था। आजकल भी बाजार में नरकों के चित्र बिकते हैं।

कुछ पहले तक बंगाल में कागज पर बने मालचित्रों की तरह लपेटे पौराणिक चित्र दिखाए जाते थे। इस प्रदर्शन को 'पट नाचानो' कहा जाता था और प्रदर्शक 'पटुआ' या 'पटिदार' कहे जाते थे। इसके अंत में भी यमराज-सभा का दृश्य रहता था। उक्त प्रदर्शक साधु ही होते थे।

नीलकंठ जी की टीका ऊपर उद्धृत की जा चुकी है। उससे यह ध्वनि निकलती है कि छाया नाटकों का प्रचार दक्षिण भारत में ही था, उत्तर भारत में नहीं। पर किसी न किसी रूप में यह परंपरा उत्तर भारत में भी अवश्य चलती थी। 'कठपुतली' का नाच क्या है, छाया नाटक की ही परंपरा तो! 'कठपुतली' का नाच दिखलानेवाले में 'सूत्रधारता' और 'चर्याप्रदर्शनकारिता' भी संनिविष्ट है।

यह नहीं कहा जा सकता कि छाया नाटकों में परदे के पीछे से पात्रों का वक्तव्य भी नाटकीय ढंग से कहा जाता था अथवा नहीं। यदि कहा जाता रहा हो तो उस छाया नाटक की तुलना बहुत अंशों में आधुनिक 'टाकी' या 'सवाक् चित्रपट' से हो सकती है।

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की पश्चिमोत्तरी विजय-यात्रा

श्री बुद्धप्रकाश एम० ए०

दिल्ली से नौ मील ठीक दक्षिण की ओर मेहरौली नामक एक गाँव है। इसमें कुतुबमीनार के पास एक लौह स्तंभ है, जिसपर एक अभिलेख[1] उत्कीर्ण है। इस अभिलेख में चंद्र नामक एक वैष्णव सम्राट् का वर्णन है, जिसने पश्चिमोत्तर में वाह्लीकों[2] को परास्त किया था, पूर्व में भीषण संग्राम के पश्चात् अंग पर अधिकार प्राप्त किया था और जिसकी कीर्ति से दक्षिण जलनिधि भी सुरभित था। प्रिंसप महाशय ने प्रस्तुत अभिलेख का समय ईसा की तीसरी या चौथी शती निश्चित किया है। डा० भाऊदा जी का भी यही मत है कि उक्त अभिलेख गुप्तकाल के बाद का नहीं हो सकता। अतः अभिलेख का समय निर्विवाद रूप से सिद्ध है। प्रश्न यह उठता है कि अभिलेख में वर्णित 'चंद्र' राजा कौन थे। इस विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। श्री फ्लीट के मतानुसार गुप्त-साम्राज्य के संस्थापक प्रथम चंद्रगुप्त उक्त अभिलेख के चंद्र हैं[3]। डा० राधागोविंद बसाक ने इस मत का समर्थन किया है[4] और हाल में ही डा० कृष्णस्वामी आयंगर ने इस मत की पर्याप्त पुष्टि की है[5]। फ्लीट महाशय का यह भी संकेत है कि गाँव का नाम, जहाँ यह अभिलेख मिला है, मिहिरपुरी होने के कारण यह संभव है कि अभिलेख मिहिरकुल व किसी छोटे भाई का हो, जिसका नाम हूवेन च्वांग भूल गए हों[6]। डा० हरिश्चंद्र सेठ का विचार है कि 'चंद्र' चंद्रगुप्त मौर्य हैं, जिन्होंने उत्तर में यवनों और वाह्लीकों से लोहा लिया था और पूर्व में नंद राजाओं के दाँत

१—कोर्पस् इंसक्रिपशियोनम् इंडिकोरम्, भाग ३, संख्या ३२।

२—वाह्लीक अराकोजिया के निकटवर्ती प्रदेश में रहनेवाले बक्ट्रिओई लोग थे, जिनका वर्णन यूनानी भूगोलशास्त्री टॉलेमी ने किया है।—इंडियन एंटीक्वेरी, सन् १८८४, पृष्ठ ४०८।

३—श्री फ्लीटकृत को० इ० इं०, संख्या ३२, भूमिका।

४—श्री बसाककृत हिस्ट्री आव् नार्थ ईस्टर्न इंडिया, भूमिका।

५—जर्नल आव् इंडियन हिस्ट्री में प्रकाशित स्टडीज इन गुप्त हिस्ट्री।

६—श्री फ्लीटकृत वही।

खट्टे किए थे[1]। डा० हेमचंद्र रायचौधरी का विचार है कि नाग वंशज चंद्रांश मेहरौली अभिलेख के 'चंद्र' हैं[2]। अय्यर महाशय ने 'चंद्र' को सदाचंद्र भारशिव बताया है, जो भवनाग के उत्तराधिकारी थे। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने पुष्करणनरेश चंड वर्मन को 'चंद्र' सिद्ध किया है। इनका एक अभिलेख सिसुनिया में मिला है। डा० रमेशचंद्र मजूमदार के मतानुसार 'चंद्र' कुषाण सम्राट् कनिष्क हैं, जिनका उपनाम कुछ तिब्बती किंवदंतियों के अनुसार 'चंद्र' था। इन सब मतों के विपरीत श्री काशीप्रसाद जायसवाल, डा० दिनेशचंद्र सरकार और डा० आर० एन० डांडेकर की संमति है कि ये 'चंद्र' गुप्त-सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकते।[3]

उक्त मतों की आलोचना यहाँ अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि इनमें से बहुत से मत सर्वथा निराधार और स्पष्टतया प्रमाणरहित हैं। अगर 'चंद्र' प्रथम चंद्रगुप्त हैं और उन्होंने समस्त भारत पर आधिपत्य प्राप्त कर लिया था तो उनके सुपुत्र समुद्रगुप्त की विजय यात्राओं का क्या अर्थ है? उक्त राजा को हूण नरपति कहना अभिलेख को समय की परिधि के बाहर ले जाना है और ऐतिहासिक कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। चंद्रगुप्त मौर्य की इस 'चंद्र' से एकता प्रतिपादित करना डा० सेठ की मौर्य-सम्राट् संबंधी प्रीति का परिचायक है, लेकिन लिपि से वे भी मजबूर हैं। श्री रायचौधरी और श्री अय्यर के विचार अनुमान मात्र हैं, इनके लिये उन्होंने कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है। श्री मजूमदार का विचार भी इसी कोटि का है। शास्त्री जी के विचार का समर्थक केवल यह तथ्य है कि सिसुनिया और मेहरौली दोनों स्थानों के अभिलेख वैष्णव अभिलेख हैं, परंतु उस समय चंद्र वर्मा इतने शक्तिशाली नहीं थे। भारत के प्रमुख शासनधर वाकाटक थे। ईसा की चौथी शताब्दी के प्रारंभ में वाकाटक राज्य-व्यवस्था के शिथिल हो जाने के कारण स्थानीय सामंतों को अवश्य

१—श्री हरिश्चंद्र सेठ कृत चंद्रगुप्त मौर्य और भारत में सिकंदर की पराजय (बुलंदशहर)।

२—डा० हेमचंद्र रायचौधरी कृत पोलीटिकल हिस्ट्री आव् एंशियंट इंडिया, पृष्ठ ४४९।

३—श्री डांडेकर कृत हिस्ट्री आव् दि गुप्ताज्, पृष्ठ २७ एवं जर्नल आव् रायल एशियाटिक सोसायटी आव् बेंगाल भाग ५, संख्या ३, सन् १९३९, पृष्ठ ४१३, डा० जायसवाल के विचारों के लिये देखिए हिस्ट्री आव् इंडिया, पृष्ठ १५०-३५० एवं जर्नल आव् बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, भाग १९।

अपने प्रसार का अवसर मिल गया था और चंद्र वर्मा का सिसुनिया-अभिलेख उसकी क्षणिक सफलता का सूचक है, परंतु यह कहना कि उसने बह्लख से बंगाल तक एकच्छत्र आधिपत्य स्थापित कर लिया था और फिर समुद्रगुप्त की प्रसारोन्मुखी शक्ति के सामने उसने घुटने टेक दिए थे, स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। 'चंद्र' का सही पता लगाने के लिये हमें ईसा की चौथी, पाँचवीं शताब्दी में एक ऐसे सम्राट् को ढूँढ़ना है जो निम्नलिखित शर्तों को पूरा कर सके—

(१) जो चौथी शताब्दी के आसपास रहा हो।

(२) 'चंद्र' जिसके नाम का एक अंग हो।

(३) जिसने समस्त पृथिवी विजय करने का दावा किया हो और ऐसा किया भी हो।

(४) जिसने बंगाल में युद्ध किए हों।

(५) जिसका दक्षिण में आतंक रहा हो।

(६) जिसने पश्चिमोत्तर में विजय यात्रा की हो।

(७) जो वैष्णव हो।

(१) इस काल में द्वितीय चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने राज्य किया था जिनका समय लगभग ईसा की ३७५ शती से ४१४ शती तक है।

(२) 'चंद्र' उनके नाम का एक अंग था। उनके सिक्कों पर उन्हें 'चंद्र' और 'नरेंद्रचंद्र' नामों से अभिहित किया गया है।

(३) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने समस्त भूमंडल को अपने अधीन कर लिया था[1]। यह स्मरण रखना चाहिए कि उन दिनों समस्त भूमंडल से तात्पर्य भारत-भूमि से ही था और उसमें भी इतना ही पर्याप्त था कि छोटे बड़े राजा और रईस सम्राट् का प्रभुत्व स्वीकार कर लें। जैसा हम अभी देखेंगे चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का राज्य वस्तुतः पश्चिमोत्तरी सीमा, गुजरात, काठियावाड़, बंगाल और दक्षिण के ऊपरी हिस्सों में फैला हुआ था। सुदूर दक्षिण के सब राजा उनके संबंधी और सहचारी थे।

(४) समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में वंग-प्रदेश को हम समतट, डवाक और कामरूप इन तीन प्रत्यंत राज्यों में विभक्त पाते हैं। समतट दक्षिण पूर्वी बंगाल था और कामरूप असम प्रांत के निचले भाग का नाम। फ्लीट महाशय के मतानुसार डवाक वर्तमान ढाका है। स्मिथ ने बोगरा, दीनाजपुर और राजशाही जिलों को डवाक सिद्ध किया है।

१—उदयगिरि का गुफा-लेख, का० इ० इ०, संख्या ३ की पाँचवीं पंक्ति—कृत्स्नपृथिवीजयार्थेन राज्ञैवेह......।

डा० देवदत्त भांडारकर का विचार है कि चटगाँव और तिपेरा की पहाड़ी भूमि डवाक कहलाती थी। इन तीनों राज्यों ने समुद्रगुप्त को आत्म-समर्पण किया था।[1] किंतु समुद्रगुप्त की नीति के अनुसार इन राज्यों का समूल उच्छेद कर इन्हें गुप्त-साम्राज्य में नहीं मिलाया गया था। परंतु कुमारगुप्त महेंद्रादित्य के समय में हम इन प्रदेशों को पूर्णतः गुप्त-साम्राज्य के अंतर्गत पाते हैं। स्थानीय राजाओं के स्थान पर गुप्त-सम्राट् के प्रतिनिधि (वायसराय) चिरातदत्त इन प्रदेशों पर शासन करते हुए दृष्टिगत होते हैं।[2] हाल में ही बैग्राम से गुप्त-संवत् १२८ (ईसवी सन् ४४७-४८) का एक शिलालेख मिला है जिससे ज्ञात होता है कि पंचनगरी विषय में, जो उत्तरी बंगाल में होगा, कुमारामात्य कुलवृद्धि शासन करते थे।[3] सारांश यह कि कुमारगुप्त के समय में यह प्रदेश पूर्णतः गुप्त-साम्राज्य का अंग बन गया था। प्रश्न उठता है कि किसके राज्य में और किसने इन प्रदेशों को जीतकर गुप्त-साम्राज्य में मिलाया और क्यों ? कुमारगुप्त जैसे विलासी और आलसी सम्राट् का यह काम था, इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। समुद्रगुप्त को ऐसा करने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी, क्योंकि इन राजाओं ने पहले ही स्वेच्छा से आत्मसमर्पण कर दिया था। अतः स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त और कुमारगुप्त के मध्यवर्ती राजा ने वंग-प्रदेश को पराजित कर वहाँ की स्वायत्तता का समूल उच्छेद किया था। विभिन्न साधनों से परिलक्षित होता है कि रामगुप्त के राज्यारोहण के पश्चात् गुप्त-साम्राज्य में एक भीषण खलबली मची थी। उत्तर में शकों और सासानियों का भयानक आक्रमण हुआ था, जो चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के शौर्य और पराक्रम द्वारा ही खदेड़ा गया। दक्षिण में वाकाटकों ने जरूर कुछ सरगर्मी दिखाई होगी, जिसके कारण चंद्रगुप्त को अपनी कन्या प्रभावती गुप्त का विवाह वाकाटक-कुल में करना पड़ा। अतः यह संभव है कि इस आंदोलन में बंगाल के प्रत्यंत नृपतियों ने भी अपनी स्वतंत्रता उद्घोषित की हो और चंद्रगुप्त को मजबूर होकर इन राजाओं का पूर्ण विध्वंस करना पड़ा हो। इस भीषण संग्राम की ही

१—को० इं० इं०, संख्या १. पंक्ति २२।

समतट-डवाक-कामरूप-नेपाल-कर्तृपुरादिप्रत्यन्तनृपतिभि...

...सर्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमनपरितोषितप्रचण्डशासनस्य।

२—एपिग्राफिया इंडिका, भाग १५, पृष्ठ १३०-१३१ में गुप्त-संवत् १२४ और १२९ के दामोदरपुर के ताम्रपत्र-लेख।

३—वही, भाग २१, पृष्ठ ७८।

ध्वनि मेहरौली के अभिलेख में सुनाई देती है।[1] इसमें चंद्रगुप्त ने शत्रुओं के समूह (कांफिडरेसी) को परास्त किया था और इस विजय से गुप्त-सम्राटों का बंगाल में इतना आतंक फैल गया था कि अंत तक-प्रकटादित्य के समय तक – बंगाल गुप्त-साम्राज्य का अंग बना रहा।

(५) इसका उल्लेख अभी किया गया है कि चंद्रगुप्त ने वाकाटकों से मैत्री स्थापित करने के लिये अपनी कन्या का पाणिप्रदान किया था। वस्तुतः उत्तर की विकट राजनीति में वे इतने संलग्न थे कि संधि के अतिरिक्त दूसरा चारा ही नहीं रह गया था। फिर उत्तरापथ से दक्षिण-प्रदेश का संयमन करना इस काल में सरल भी नहीं था। अतः चंद्रगुप्त को साम नीति का ही आश्रय लेना पड़ा और इसमें उन्हें काफी सफलता भी प्राप्त हुई। चंद्रगुप्त के जामाता द्वितीय रुद्रसेन प्रभावती गुप्त और द्वितीय प्रवरसेन के राज्य-काल में गुप्त-साम्राज्य का दक्षिण में बहुत प्रभाव रहा। द्वितीय प्रवरसेन ने, जो प्रथम पृथिवीषेण की कुंतल-विजय के पश्चात् कुंतलेश कहलाता था, 'सेतुबंध' नामक प्राकृत-काव्य की रचना की थी। टीकाकार ने लिखा है कि उक्त काव्य प्रवरसेन ने, जो द्वितीय चंद्रगुप्त का सभासद था, तैयार किया था और विक्रमादित्य के कहने पर कविकुलगुरु कालिदास ने इसका संशोधन किया था।[2] भोज के 'शृंगार-प्रकाश' में लिखा है कि विक्रमादित्य ने कालिदास को कुंतल-नरेश की सभा में दूत बनाकर भेजा था। लौटनेपर कालिदास ने कुंतलेश की सभा की विलासिता और सुख-संपन्न जीवन के विषय में अपने विचार एक पद्य

१—यस्योद्वर्त्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून्समेत्यागतान्।
वङ्गेष्वाहववर्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे॥

—मेहरौली का अभिलेख, पंक्ति १।

महाकवि कालिदास ने संभवतः इसी युद्ध का वर्णन निम्नलिखित पंक्तियों में किया है—

चकम्पे तीर्णलौहित्ये तस्मिन्प्राग्ज्योतिषेश्वरः।
तद्गजालानतां प्राप्तैः सह कालागुरुद्रुमैः॥
तमीशः कामरूपाणामत्याखण्डलविक्रमम्।
भेजे भिन्नकटैर्नागैरन्यानुपरुरोध यैः॥—रघुवंश, सर्ग ४, श्लोक ८१, ८३।

स्मरण रखना चाहिए कि यहाँ 'प्राग्ज्योतिष' और 'कामरूप' प्रयाग-प्रशस्ति के ही डवाक और कामरूप हैं। यह युद्ध पश्चिमी विजय-यात्रा के बाद हुआ था। (रघुवंश)

२—प्रोसीडिंग्स आव् दि सेवेंथ ओरियंटल कान्फरेंस, पृष्ठ ९९।

में विक्रमादित्य के सामने उपस्थित किए थे। यह पद्य भी 'शृंगारप्रकाश' में उद्धृत है। क्षेमेंद्र ने 'औचित्यविचारचर्चा' में भी कालिदास के 'कुंतेश्वर-दौत्य' का जिक्र किया है।[1] बाद में जब कुंतल पर कदंब राजा काकुत्स्थ वर्मा का अधिकार हो गया था तब उन्होंने गुप्त-सम्राटों के आतंक से अभिभूत हो अपनी कन्या का विवाह गुप्त-सम्राट् से किया था, जो संभवतः प्रथम कुमारगुप्त होंगे।[2] यह तथ्य तालगुंद के अभिलेख में वर्णित है। कुमारगुप्त के कुछ सिक्के सितारा जिले में मिले हैं, जिनसे दक्षिण में गुप्त-सम्राटों के प्रभाव की पर्याप्त पुष्टि होती है। अतः स्पष्टतः सिद्ध है कि दक्षिण में गुप्त-आधिपत्य का संस्थापन चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का ही कार्य था। मेहरौली-अभिलेख में इसका कवित्वपूर्ण, सरस एवं सुंदर वर्णन है।[3]

(७) पहले संख्या सात पर विचार कर लेना अधिक उपयुक्त होगा। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य वैष्णव थे, यह निस्संदिग्ध है। मथुरा और गढ़वा के शिला-लेखों में उन्हें परम भागवत कहा गया है।[4] घुड़सवार ढंग के सिक्कों पर जो लेख ऊपरी ओर उट्टंकित है उसमें भी चंद्रगुप्त को परम भागवत कहा गया है।[5] चाँदी के सिक्कों पर भी जो लेख काठियावाड़ी लिपि में है उसमें चंद्रगुप्त के लिये 'परमभागवत' विशेषण का प्रयोग किया गया है।[6] अतः स्पष्ट है कि चंद्रगुप्त वैष्णव धर्मावलंबी थे और उन्हीं की स्मृति में मेहरौली का स्तंभ स्थापित किया गया था, तथा उसपर उक्त अभिलेख उत्कीर्ण किया गया था।

(६) उक्त विवेचन द्वारा निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि मेहरौली अभिलेख के 'चंद्र' सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ही हैं। उनके

१—प्रोसीडिंग्स आव् दि थर्ड ओरियंटल कान्फरेंस (१९२४), पृष्ठ ६। कालिदास ने ही कदाचित् द्वितीय प्रवरसेन के ताम्रपत्र-लेखों का संपादन किया हो, जिन्हें हाल में ही महामहोपाध्याय मिराशी जी ने पत्तन से प्राप्त किया है।

२—काकुत्स्थ वर्मा का समय श्री एन० लक्ष्मीनारायण राव ने ईसा की ४३५ शती—४७५ शती तक सिद्ध किया है। अतः संभव है यह विवाह-संबंध कुमारगुप्त से ही हुआ हो।

३—यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैः दक्षिणः, पंक्ति २।

४—को० इं० इं०, संख्या ४ और ७ पंक्ति ११ और १।

५—एलन कृत कैटलाग आव् दि इंडियन क्वायन्स इन दि ब्रिटिश म्यूजियम, गुप्ता डाइनेस्टीज, पृष्ठ ४५।

६—वही, पृष्ठ ४९-५१।

अतिरिक्त कोई और सम्राट् 'चंद्र' के वर्णन से नहीं मिलता। अब यह देखना है कि क्या चंद्रगुप्त ने भारत की पश्चिमोत्तरी सीमाओं को पार कर मध्य एशिया में बाह्लीकों को परास्त किया था, जिसका उल्लेख मेहरौली के अभिलेख में है।[१]

रामगुप्त के शासन-काल में भारत पर शकों का भीषण आक्रमण हुआ था। हतोत्साह हो रामगुप्त अपनी राजमहिषी ध्रुवदेवी का त्याग करने को तत्पर हो गए थे। किंतु चंद्रगुप्त के पराक्रम, साहस और चातुर्य से गुप्त-श्री शकों द्वारा कलुषित होने से बच गई। चंद्रगुप्त ने ध्रुवदेवी का रूप धारण कर और अपने वीर योद्धाओं को सहेलियों और परिचारिकाओं के रूप में सन्निविष्ट कर शक-स्कंधावार पर छापा मारा और सहजैव शत्रु का समूल विनाश कर दिया[२]। यह घटना जलंधर दोआब में हुई थी। जलंधर जिले में अब भी 'अलिवाल' नाम का एक पुराना गाँव है। कदाचित् 'अलिवाल' 'अलिपुर' का नामांतर हो, जहाँ 'हर्षचरित' के अनुसार चंद्रगुप्त ने शकों को पराजित किया था[३]। डा० अल्तेकर के मतानुसार यह शक राजा महाक्षत्रप रुद्रसेन थे जिन्होंने ईसा की ३४८ शती-३७८ शती तक राज्य किया था और जिनके शासन-काल में शकों ने पर्याप्त उन्नति की थी[४]। परंतु जैसा कि हम अन्यत्र दिखा चुके हैं शकों की शक्ति इस समय बहुत क्षीण हो गई थी। आभीरों का गुजरात और सौराष्ट्र पर पूर्ण प्रभाव स्थापित हो चुका था, जैसा श्री राखालदास बनर्जी ने लिखा है—'ऐसी अवस्था में यह नितांत संदेहास्पद है कि किसी भी काठियावाड़ के शक-नरपति के लिये समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारी पाटलिपुत्र नरेश गुप्त-सम्राट् की कन्या का माँगना संभव हो सकता था'[५]। और फिर गुजरात की

१—तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता बाह्लीका।—वही, पंक्ति २।

२—डा० अ० स० अल्तेकर ने प्रचुर सामग्री और साधनों के आधार पर इस घटना का पूर्ण चित्र उपस्थित किया है।

—जर्नल आव् बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, भाग १४, पृष्ठ २२३-५३।

३—श्री काशीप्रसाद जायसवाल का लेख, वही, भाग १८।

डा० दे० रा० भांडारकर के अनुसार यह युद्ध कर्तारपुर में हुआ था—मालवीय स्मारक ग्रंथ। परंतु इसका कोई विशेष प्रमाण नहीं है।

४—डा० अल्तेकर, वही।

५—श्री राखालदास बनर्जीकृत एज आव् दि इंपीरियल गुप्ताज्, पृष्ठ २९।

तरफ से अगर आक्रमण होता तो उदयगिरि के आसपास होता, जो गुजरात और उत्तर-पूर्वी भारत के रास्ते की प्रधान चौकी था और जहाँ से चंद्रगुप्त ने गुजरात पर बाद में आक्रमण किया था[1]। यह बहुत विचित्र बात होती यदि गुजरात की ओर से आक्रमण जलंधर प्रदेश के इधर उधर होता। अतः श्री काशीप्रसाद जायसवाल का विचार ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि उक्त शकपति कुषाण वंशी राजा थे। हमने अन्यत्र[2] सिद्ध किया है कि कुषाण भारत से परास्त होकर सासानियों की शरण में आ गए थे। अतः प्रतीत होता है कि इन दोनों राजाओं की संमिलित शक्ति से भारतवर्ष पर आक्रमण किया गया था और इसी प्रकार सफलता की आशा भी हो सकती थी।

इस विजय के पश्चात् चंद्रगुप्त को कुषाण-सासानी संकट की पूर्ण प्रतीति हो गई थी और इस क्षणिक विजय से उनकी आशंका दबी नहीं, वरन् तीव्रतर हो गई। अतः उन्होंने शीघ्र ही भारत की अवस्था ठीक कर इस ओर ध्यान दिया और मध्य एशिया में कुषाण-सासानी राज्यों पर भीषण आक्रमण किया जिससे यह संकट सदा के लिये लुप्त हो जाय। इसी आक्रमण का वर्णन मेहरौली के अभिलेख में है।

इस विजय-यात्रा का विस्तृत एवं चित्रमय वर्णन महाकवि कालिदास के 'रघुवंश' के चतुर्थ सर्ग में सुरक्षित है, जिसकी ओर विद्वानों ने पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है। रघु की दिग्विजय में कालिदास ने सम्राट् समुद्रगुप्त की विजय-यात्रा एवं चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के पश्चिमोत्तरी आक्रमण का महान् चित्र प्रस्तुत किया है। विद्वानों ने प्रयाग-प्रशस्ति के अध्ययन के फलस्वरूप निश्चित किया है कि समुद्रगुप्त के आक्रमण मध्य-भारत—ईरण, कौशांबी—तथा पूर्वी दक्षिणी तट—कोलेर झील—पर ही हुए थे। 'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प' में कश्मीर-विजय-यात्रा एवं पश्चिमी आक्रमण का उल्लेख है, परंतु वे केवल प्रदर्शन मात्र थे, जिनसे गणराज्यों, प्रत्यंतनृपतियों और शकों के हृदय में आतंक बैठ गया था और वे आत्म-समर्पण करने के लिये विवश हुए थे। यही कारण है कि प्रयाग-प्रशस्ति में इनका विशेष उल्लेख नहीं है। अतः कालिदास ने बंगाल, मध्य भारत और दक्षिण-पूर्वी युद्धों के जो वर्णन किए हैं वे वास्तव में समुद्रगुप्त के युद्ध

१—कॉ॰ इं॰ इं॰, संख्या ६, कृत्स्नपृथिवी जयार्थेन राज्ञैवेह सहागतं भक्त्या गुहामेतामकारयत्, पंक्ति ५।

२—गुप्त-साम्राज्य और भारत के जनतंत्रात्मक गणराज्य।

—विश्ववाणी, सन् १९४६, पृष्ठ २०३।

हैं। परंतु उन्होंने पश्चिमी और मध्य एशिया के आक्रमण का जो सूक्ष्म और सुंदर चित्रण किया है वह समुद्रगुप्त की विजय-यात्राओं से कोई सबंध नहीं रखता, वरन् वह चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के उस महान् दिग्विजय का परिचायक है जो मेहरौली के अभिलेख में वर्णित है एवं जो गुप्त-साम्राज्य के स्थायित्व के लिये अनिवार्य तथा अवश्यंभावी था। कवि ने जिस सूक्ष्मतापूर्वक इस वर्णन को पद्यबद्ध किया है उससे निस्संदिग्ध रूप से ज्ञात होता है कि कवि को इसका वैयक्तिक परिचय था। हमने ऊपर देखा है कि कालिदास कवि मात्र ही नहीं थे वरन् गुप्त राजनीति में भी विशिष्ट योग देते थे। अतः यह स्वाभाविक है कि इस विजय-यात्रा में वे स्वयं भी संमिलित हुए हों। हम इस विजय-यात्रा का कालिदासकृत वर्णन देखें।

अपनी विशाल वाहिनी के साथ सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य पश्चिमोत्तर की ओर अग्रसर हुए और हिमालय के दर्रों को पार कर उस मार्ग से बल्ख की ओर बढ़े जिसका सिकंदर ने उपयोग किया था। बल्ख प्रदेश में ही, शायद येग्राम के समीप, कुषाणों और सासानियों से गुप्तों का युद्ध हुआ। कालिदास ने कुषाणों की चर्चा नहीं की है, क्योंकि उनकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं रह गई थी। प्रमुख शक्ति पारसियों की थी और इन्हीं से युद्ध करने के लिये चंद्रगुप्त ने प्रस्थान किया था।[1] पारसियों की अश्व-सेना तो प्रसिद्ध ही है। उन्होंने भारतीयों के विरोध के लिये बहुत बड़ी अश्व-सेना तैयार की। युद्ध इतना तुमुल हुआ कि पारसियों के दढ़ियल मुंडों से पृथिवी इस प्रकार आच्छादित हो गई जिस प्रकार मधुमक्खियों से शहद का छत्ता[2]। इस भीषण हत्याकांड और चंडीनृत्य के पश्चात् पारसी संधि करने के लिये विवश हुए और स्थानीय रिवाज के अनुसार उन्होंने नंगे सिर अपनी पगड़ियाँ घसीटते हुए गुप्त-सम्राट् की शरण ग्रहण की।[3] इस प्रदेश के सिंदूर बहुत प्रसिद्ध हैं और फलों—

१—पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना।
इन्द्रियाख्यानिव रिपूंस्तत्त्वज्ञानेन संयमी ॥६०॥—रघुवंश—सर्ग ४।
यह स्थल मार्ग देहली, रोहतक, कैथल, हिसार, लाहौर, पेशावरवाला प्रसिद्ध मार्ग था।

२—संग्रामस्तुमुलस्तस्य पाश्चात्यैरश्वसाधनैः।
शार्ङ्गकूजितविज्ञेयप्रतियोधे रजस्यभूत् ॥६२॥
भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम्।
तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव ॥६३॥—वही।

३—अपनीतशिरस्त्राणाः शेषास्तं शरणं ययुः।
प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम् ॥६४॥—वही।

-विशेषतः अंगूरों-की तो वह खान है। वहाँ की कापिशायिनी मदिरा का उल्लेख कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' में मिलता है। अतः युद्ध में विजय प्राप्त कर भारतीय सैनिकों ने अपने अतुलित आनंद और उल्लास को मधुपान एवं मस्ती में प्रकट किया और बहुमूल्य सिमूरों का खूब प्रयोग किया।[1] यह विजय वस्तुतः भारतीयों के लिये अपूर्व गौरव की वस्तु थी।

यह इलाका आजकल वाख-खान कहलाता है और कश्मीर की सीमाओं से सटा हुआ है। इससे उत्तर-पूर्व की ओर दजला नदी के अर्धचंद्राकार घुमाव में परिबद्ध बदख्शाँ का प्रदेश है। बल्ख से बदख्शाँ होती हुई एक सड़क खुत्तल प्रदेश में जाती है, जो दजला और वक्षाह के संगम से जरा पूर्व की ओर है। चंद्रगुप्त ने बल्ख से उत्तर-पूर्व की ओर जानेवाली सड़क पकड़ी, जो बदख्शाँ और वाख-खान से गुजरती हुई वक्षाह नदी की अंतर्वेदी में पहुँचती है। उन्होंने जरा पश्चिमोत्तर की ओर जानेवाली सड़क छोड़ दी, जो सुग्द (यूनानियों का सोग्दियाना) प्रदेश में चली जाती है, क्योंकि इधर कोई ऐसी शक्तिशाली राज-सत्ता नहीं थी और मार्ग भी कुछ अधिक दुर्गम था। इसके विपरीत दूसरी तरफ हूण और कंबोज जैसे दुर्दांत शत्रु मौजूद थे और रास्ता भी अपेक्षाकृत सरल था।

वक्षाह[2] की वादी में हूण बसते थे। चीनी सम्राट् शिः-हॉंग-ती ने ईसा से २४६ वर्ष पूर्व इन्हें चीन से निकाल दिया था। इसके बाद मंगोलिया इनका गढ़ बन गया था। धीरे धीरे ये पश्चिम की ओर बढ़ने लगे और वक्षाह एवं दजला की वादी में बस गए। ईसवी सन् ३५० में इन्होंने दजला को पारकर पारसी-साम्राज्य पर आक्रमण किया, परंतु सासानी सम्राट् शाहपुर ने इन्हें परास्त कर दिया। इसके बाद ये सासानियों के मित्र बन गए और रोम के आक्रमण में इन्होंने शाहपुर को सहायता भी की। इनकी मैत्री बहुत दृढ़ थी। शायद सासानी साम्राज्य पर गुप्त-आक्रमण होने पर इन्होंने फिर अपने मित्र पारसियों की सहायता की हो। इसी लिये चंद्रगुप्त को इनके खिलाफ लड़ना पड़ा। वक्षाह की वादी में फिर

१—विनयन्ते स्म तद्योधा मधुभिर्विजयश्रमम्।
आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु ॥ ६५ ॥—वही

२—कालिदास ने इसे 'वंक्षु' कहा है। कुछ विद्वानों का विचार है कि आक्सस् ही वंक्षु है। परंतु यह गलत है। आक्सस् बहुत बड़ी नदी है, जो पामीर से निकल कर मध्य एशिया को पार करती हुई बहती है। वंक्षु आक्सस् नहीं है, बल्कि आक्सस् की एक धारा है, जो आक्सस् में मिलती है। इसका नाम वक्षाह है।

—इंडियन एंटिक्वेरी, सन् १९१९ पृष्ठ ७५।

हूणों के साथ भारतीयों का महान् युद्ध हुआ। विक्रमादित्य ने अपने तीक्ष्ण किरणरूपी तीरों से शत्रुरूपी समुद्र को विदीर्ण कर दिया। विक्रमादित्य का विक्रम हूण-स्त्रियों के रक्तिम कपोलों में प्रतिबिंबित हुआ और हूण भारतीय सम्राट् के सामने पराजित और नतमस्तक हुए।[१] रास्ता तै करने में सुकुमार भारतीयों को बहुत कठिनाइयाँ झेलनी पड़ी थीं। उनके घोड़े भी थक गए थे। अतः उन्होंने कुछ आराम किया और उनके घोड़ों ने वंक्षु के कुंकुमाकीर्ण तट पर लेटकर अपनी थकान मिटाई।

अब मध्य एशिया में कोई अन्य शक्ति ऐसी नहीं रह गई थी जो भारतीयों का सामना कर सकती। अतः भारतीय सेना वापस लौटने लगी। कश्मीर के दर्रों से वह गुजरी। यहाँ कंबोज बसते थे, जिनको जीतना कठिन काम नहीं था। अतः इन्हें जीतकर गुप्त-सेना हिमालय से होती हुई दक्षिण भारत की ओर बढ़ने लगी। हिमालय के इसी प्रदेश में किरातों, किन्नरों और उत्सवसंकेतगणों के साथ युद्ध हुआ।

कंबोज प्रदेश के नीचे, कश्मीर और अभिसार के पास, पर्वतीय लोगों का गण था जो झेलम नदी पर स्थित 'साल्टरेंज' के चारों तरफ फैला हुआ था। पाणिनी ने तक्षशिलादि गण में 'पर्वत' देश का उल्लेख किया है और 'महाभारत' में पर्वतीयों के गणों का उल्लेख है।[२] यह गण पहले बहुत प्रभावशाली था और एक समय राजतंत्र भी ग्रहण कर चुका था। सिकंदर के महान् प्रतिद्वंद्वी पोरस इसी पर्वतीय गण के राजा थे और उन्होंने सिकंदर के प्रस्थान के पश्चात् चंद्रगुप्त मौर्य को पाटलिपुत्र

१—ततः प्रतस्थे कौबेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम्।
शरैरुस्रैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन्रसानिव ॥ ६६ ॥
विनीताध्वश्रमास्तस्य वंक्षुतीरविचेष्टनैः।
दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धाल्लग्नकुङ्कुमकेसरान् ॥ ६७ ॥
तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्।
कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम् ॥ ६८ ॥—रघुवंश, सर्ग ४।

२—विजित्य चाहवे शूरान्पार्वतीयान्महारथान्।
जिगाय सेनया राजन्पुरं पौरवरक्षितम् ॥
पौरवं युधि निर्जित्य दस्यून्पर्वतवासिनः।
गणानुत्सवसङ्केतानजयत्सप्तपाण्डव ॥
ततः काश्मीरकान्वीरान् क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभः। इत्यादि।
—महाभारत, सभा पर्व, अध्याय २७।

ग्रहण करने में पर्याप्त सहायता की थी।[1] पोरस की हत्या के बाद जब पर्वतीयों की शक्ति का ह्रास हो गया था तब ये फिर गण-शासन के अधीन हो गए थे। लौटते समय चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का इनके साथ घोर युद्ध हुआ,[2] जिसके परिणाम-स्वरूप इस गण का अस्तित्व सदा के लिये लुप्त हो गया। यह गुप्त-सम्राट् की अंतिम गण-हत्या थी। इस प्रकार पश्चिमोत्तरी संकट को दूरकर और मध्य एशिया को भारतीयों के नाम से आतंकित कर गुप्त-सेनाएँ भारतवर्ष वापस आईं।

इस विजय-यात्रा से गुप्त-साम्राज्य में कोई प्रादेशिक वृद्धि नहीं हुई लेकिन पंजाब और पश्चिमोत्तर प्रांत पूर्णतः उनके अधीन हो गए और शक-संकट सदा के लिये लुप्त हो गया। चंद्रगुप्त मौर्य का नाम 'शकारि' पड़ गया। कुछ विद्वानों का विचार है कि काठियावाड़ के क्षत्रपों की पराजय के कारण चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का नाम शकारि हुआ। संभव है यह विचार ठीक हो। परंतु हतप्राय क्षत्रपों को हराना कोई बड़ी बात नहीं थी। केवल इतने के लिये बड़ी पदवी धारण कर लेना उपहासास्पद ही है। 'शकारि' नाम का वास्तविक उद्गम यह पश्चिमोत्तरी विजय-यात्रा थी, जिसने भारतीय गौरव में चार चाँद लगा दिए। यह नाम इतना प्रसिद्ध हो गया कि कोशकार इसे अपनी रचनाओं में स्थान देने लगे। 'अमरकोश' पर टीका करते हुए क्षीरस्वामी ने लिखा है—

विक्रमादित्यः साहसांकः शकांतकः।

१—श्री हरिश्चंद्र सेठ कृत आन दि आइडेंटिफिकेशन आव् पर्वतक ऐंड पोरस, इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, जून १९४१, पृष्ठ १३७।

२—तत्र जन्यं रघोर्घोरं पर्वतीयैर्गणैरभूत्।
नाराचक्षेपणीयाश्मनिष्पेषोत्पतितानलम् ॥ ७७ ॥—रघुवंश, सर्ग ४।

'कुसण' शब्द का अर्थ

जैनाचार्य इतिहास-तत्त्व-महोदधि श्री विजयचंद्र सूरि

मासिक की लेण संख्या दस में दत्तमित्रा के लेख के नीचे उषवदात का एक अभिलेख है। उषवदात सुप्रसिद्ध छहरात-वंश के शक क्षत्रप नहपान का जामाता था। कुछ विद्वानों ने इसका समय ईसा से ८२-७७ वर्ष पूर्व माना है और कुछ ने ईसवी सन् ११६ से १२४ तक। इस अभिलेख के अनुसार उपरिनिर्दिष्ट लेण को चातुर्दिश संघ को अर्पित किया गया है। चातुर्दिश संघ को चिवरिक और कुसण का मूल्य तीन हजार कार्षापण देने का उल्लेख है। इस शिलालेख में 'कुसण' शब्द विशेष महत्त्व का है। इस शब्द का इस अभिलेख में दो स्थानों पर उल्लेख हुआ है। पाठ इस प्रकार है—

(१) दत्तचायेन अक्षयनिवि काहापण-सहस्रानि त्रीणि, ३०००, संघस चातुदिसस ये इमस्मि लेण वसांतानं भविसंति चिवरिक कुशणमूले च।

(२) एतो मम लेण वसवुथान भिक्षुन वीसाय एकीकस चिवरिक बारसक। य सहस्रप्रयुत पायुन-पडिके शते अतो कुशनमूल।

इन पदों का अर्थ इस प्रकार किया गया है—(१) और उसने अक्षय-निधि तीन हजार कार्षापण, ३०००, संघ चातुर्दिश को दिए जो इस लेण में रहनेवालों का चिवरिक (कपड़े का खर्चा) और कुसणमूल होगा। (२) उनसे मेरी लेण में रहनेवाले बीस भिक्खुओं में से प्रत्येक को बारह चीवर; जो एक हजार पौन प्रतिशत पर प्रयुक्त हैं उनसे कुसणमूल।

'कुसण' के विभिन्न अर्थ

इस 'कुसणमूल' के साथ आए 'कुसण' शब्द का अर्थ विद्वानों ने अपने अपने मंतव्यों के अनुसार भिन्न भिन्न किया है। एम० सेनार ने इसका अर्थ 'वर्ष के विशेष मासों में मासिक वृत्ति' किया है[1] और

1—भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग २, पृष्ठ ९४९, टिप्पणी-संख्या ४।

रैप्सन ने 'कठिन नाम की प्रथा'।[1] डाक्टर भांडारकर 'कुसण' का अर्थ 'कुशाण राजा का सिक्का' करते हैं।[2] कुछ विद्वानों ने ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में प्रयुक्त 'कृशन' शब्द से इसका साम्य देखकर इसका अर्थ 'मोती' और 'सुवर्ण' किया है। सायण ने ऋग्वेद में आए 'कृशन' शब्द का अर्थ 'सुवर्ण' किया है और संभवतः इसी के आधार पर मोनियर विलियम्स ने अपने संस्कृत-कोश में 'कृशन' के मोती और सुवर्ण दोनों अर्थ दिए हैं।[3] श्री दिनेशचंद्र सरकार ने जहाँ 'कुसण' और 'कृशन' का साम्य दिखाने का प्रयास किया है वहाँ यह संभावना भी प्रकट की है कि यह 'कृशान्न' (अमुल्याहार) शब्द हो सकता है।[4] डाक्टर त्रिभुवनदास लहेरचंद शाह ने तो 'कुसण' को 'कुशाण' बनाकर उषवदात को जैन बनाया है।[5]

प्राचीन ग्रंथों में 'कुसण' का अर्थ

वस्तुतः 'कुसण' शब्द न तो संस्कृत का है और न प्राकृत का। अतएव संस्कृत या प्राकृत शब्दों के साथ इसका साम्य बैठाने का प्रयास उपयुक्त नहीं है। श्री हेमचंद्राचार्य द्वारा रचित 'देशीनाममाला' में और 'पाइअसद्द-महण्णवो' में 'कुसण' शब्द की गणना देशी शब्दों में की गई है। देखिए—

कुड्डाकुमारिकुट्टयरी कोसहहरिआव चंडीए।

कुहिअं तिसम्मि कुहेडो अ गुरेडम्मि तीमणे कुसणं।[6]

इसी देशी शब्द का अर्थ 'बृहत्कल्पसूत्र' के चौथे भाग में इस प्रकार दिया है—

कुसणं मुद्गदाल्यादि तस्य यदुदकं तदपि कुसणम्।

१—दि मीनिंग आव् दिस टर्म इज डाउटफुल। एम० सेनार ट्रांसलेट्स 'मनी फार आउटसाइड लाइफ'। बट इट वुड सीम प्रोबेबुल दट रिफरेंस इज हियर मेड टु दि कस्टम आव् कठिन आइ० इ०; दि प्रिभिलेज आव् बीयरिंग एक्स्ट्रा रोब्स व्हिच वाज ग्रांटेड टु दि रेनी सीजन।—देखिए रैप्सन कृत कैटलाग आव् दि क्वायंस आव् दि आंध्र डिनेस्टी, दि वैस्टर्न क्षत्रपज, दि त्रैकूटक डिनेस्टी ऐंड दि बोधि डिनेस्टी, प्रस्तावना, पृष्ठ ५९।

२—भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग २, पृष्ठ ९५०, टिप्पणी।

३—वही, पृष्ठ ९४९, टिप्पणी-संख्या ४।

४—सिलेक्ट इंस्क्रिप्शंस बीयरिंग आन इंडियन हिस्टरी ऐंड सिविलिजेशन, भाग १, पृष्ठ १५९, टिप्पणी-संख्या २।

५—प्राचीन भारतवर्ष (गुजराती संस्करण), भाग ४, पृष्ठ ११९, ३५३।

६—पिशल और बूलर द्वारा संपादित देशीनाममाला, वर्ग २, श्लोक ३५, पृष्ठ ८३।

पाइअसद्दमहण्णवो, पृष्ठ ३२३।

(मूँग की दाल अथवा उसका पानी।)

संक्षेप में 'कुसण' का अर्थ व्यंजन अथवा मुद्ग (मूँग की दाल) आदि अन्न है। इसी 'बृहत्कल्पसूत्र' के पाँचवे भाग में 'नेहागाढं कुसणं' का प्रयोग हुआ है। यहाँ 'नेहागाढं' से अभिप्राय 'स्नेहावगाढं' अर्थात् 'घी आदि चिकने पदार्थ से युक्त' है। यदि उपर्युक्त अर्थ स्वीकार कर लिए जायँ तो स्वभावतः 'नेहावगाढं' विशेषण अन्यथासिद्ध हो जायगा। अतएव इस अप्रचलित शब्द का अर्थ 'बृहत्कल्पसूत्र' के अनुसार व्यंजन अथवा मुद्गादि अन्न ही प्रतीत होता है इस अर्थ की पुष्टि 'आवश्यकचूर्णि', 'उत्तराध्ययनसूत्र, (नेमिचंद्राचार्य तथा शांत्याचार्य कृत टीका) में आए 'ताहे सो ताओ एक्केक्काओ खंडं देति कूरस्स कुसणस्स वत्थस्स' पद से होती है। एक श्रावक साधु को कूर (भात), कुसण (व्यंजन अथवा मुद्गादि अन्न) और वस्त्र का एक एक टुकड़ा देता है। शांत्याचार्य कृत टीका में छायाकार ने 'कुसण' का अर्थ ही 'सूप' दिया है। यदि यहाँ उपर्युक्त विद्वानों द्वारा किया गया 'सुवर्ण' आदि अर्थ लें तो 'आवश्यकचूर्णि' आदि ग्रंथों से उद्धृत पद का अर्थ ठीक इसलिये नहीं बैठेगा कि जैन साधु 'सुवर्ण' आदि का ग्रहण नहीं करते। अतः 'कुसण' का अर्थ वही उपर्युक्त प्रतीत होता है जिसकी ओर हमने निर्देश किया है।

कोशों से भी हमारे इस अर्थ की पुष्टि होती है। 'अभिधानराजेंद्र' के तीसरे भाग में 'बृहत्कल्पसूत्र' के उपर्युक्त अर्थ को ही उद्धृत किया गया है। 'पाइअसद्दमहण्णवो' में भी 'कुसण' के अर्थ 'तीमन' (व्यंजन) और 'आर्द्र करना' दिए हैं।

अतएव उषवदात के उपरिनिर्दिष्ट अभिलेख में यदि 'कुसण' का अर्थ व्यंजन अथवा मुद्गादि अन्न किया जाय तो 'कुसणमूल' के अर्थ की संगति बैठ जायगी तथा 'कुसणमूलं' का 'कुसणमूल्यं' अर्थात् 'कुसण का मूल्य' अर्थ होगा। तब ऊपर उद्धृत पदों का अर्थ इस प्रकार होगा—(१) और उसने अक्षयनिवि तीन हजार, कार्षापण, ३०००, संघ चातुर्दिश को दिए जो इस लेण में रहनेवालों का चिवरिक (कपड़े का मूल्य) और कुसणमूल (मुद्गादि अन्न का मूल्य) होगा। (२) उनसे मेरी लेण में रहनेवाले बीस भिक्खुओं में से प्रत्येक को बारह चीवर; जो एक हजार पौन प्रतिशत पर प्रयुक्त है उनसे कुसण (मुद्गादि अन्न) का मूल्य।

प्राचीन हस्तलिखित हिंदी-ग्रंथों की खोज

[सन् १९४१-४३]

अठारहवीं त्रिवर्षी (सन् १९४१-४३) में प्राचीन हस्तलिखित हिंदी-ग्रंथों की खोज में मिले प्रमुख रचनाकारों और रचनाओं के विषय में संक्षिप्त टिप्पणी नीचे दी जा रही है। इस त्रिवर्षी का संपूर्ण विवरण सुविधानुसार प्रकाशित किया जायगा।

अज्ञात रचनाकार

सिद्ध

सिद्धों में से गोरखनाथ, भरथरी, चिरपट, गोपीचंद, जलंधरीपाव, पृथ्वीनाथ, चौरंगीनाथ, कणेरीपाव, हालीपाव, मीडकीपाव, हणवंत, नागाअरजन, सिद्धहरताली, सिद्धगरीब, धूंधलीमल, रामचंद्र, बालगुदाई, घोड़ाचोली, अजैपाल, चौणकनाथ, देवलनाथ, महादेव, पारवती, सिद्धमालीपाव, सुकुलहंस और दत्तात्रय की वाणियाँ और सबदियाँ मिली हैं। हस्तलेख में रचना-काल का उल्लेख नहीं मिलता, लिपि-काल संवत् १८५५ है। प्रस्तुत वाणियों और सबदियों द्वारा इन सिद्धों के समय, जीवनवृत्त आदि के संबंध में कुछ पता नहीं चलता। इनका समय साधारणतः १० वीं शताब्दी से १४ वीं शताब्दी तक कहा जाता है।

भरथरी, गोपीचंद, चिरपट और घोड़ाचोली की सबदियों द्वारा जीवनवृत्त संबंधी कुछ बातें प्रकट होती हैं, जो बहुत ही सामान्य एवं लोकप्रसिद्ध हैं। सबदियों में भाषा का प्राचीन रूप पाया जाता है। जिस हस्तलेख में ये सबदियाँ हैं उसमें बहुत से निर्गुण संतों की भी वाणियाँ हैं। यह सभा को मिल गया है।

संत

संतों में से बावरी साहिबा, बीरू साहब, यारी साहब, बुल्ला साहब और विरंच गोसाईं मुख्य हैं।

प्रथम चार संत गुरु शिष्य क्रम से एक ही परंपरा के हैं। एक हस्तलेख में इनके कुछ शब्द तथा वाणियाँ मिली हैं, जिनका विषय संतमतानुसार साधारणतः दार्शनिक सिद्धांतों का वर्णन, भक्ति एवं ज्ञानोपदेश है। हस्तलेख में रचना-काल का उल्लेख नहीं है, लिपि-काल संवत् १८६७ वि०

है। रचयिताओं का वृत्त नहीं मिलता; पर ग्रंथस्वामी (महंत चिट, बड़ागाँव, बलिया), जो इन्हीं के अनुयायी हैं, से पता चला कि बावरी साहिबा, बीरू साहब और यारी साहब मुसलमान थे। बावरी साहिबा अकबर के पहले वर्तमान थीं। इन्होंने एक अलग पंथ चलाया, जिसका नाम आगे चलकर सत्यनामी पंथ पड़ा। जगजीवनदास ने इसका विशेष प्रचार किया। यारी साहब शाही घराने के थे; केशवदास, शाहफकीर तथा हस्तमुहम्मद इनके शिष्य थे।

बिरंच गोसाईं की 'शब्दावली' नामक रचना मिली है, जिसमें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति विषयक उच्चकोटि के अनेक पद हैं। रचना और लिपि-काल अज्ञात हैं। भाषा में भोजपुरी और मैथिली का मिश्रण है। रचयिता ने अपने लिये दो अन्य नाम जनबिरंच और बिरंचराम भी प्रयुक्त किए हैं। रचना द्वारा इनका और कोई विवरण प्राप्त नहीं होता, पर ग्रंथ-स्वामी के कथनानुसार ये बलिया जिले के अंतर्गत गड़वार के पास दामोदरपुर के निवासी एवं जाति के पांडेय ब्राह्मण थे। इनके वंशज अभी तक उक्त ग्राम में हैं। ये सिद्ध महात्मा थे। इनकी मृत्यु हुए साठ-सत्तर वर्ष हो गए हैं।

प्रेमाख्यानक कवि

प्रेमाख्यानक कवियों में से दुखहरण और रतनरंग उल्लेखनीय हैं। दुखहरण की तीन रचनाएँ 'पुहुपावती', 'भक्तमाल' और 'कवित्त' मिली हैं। प्रथम ग्रंथ जायसीकृत 'पद्मावत' की तरह प्रेमाख्यानक काव्य है। इसका रचना-काल संवत् १७२६ वि० और लिपि-काल संवत् १८६७ वि० है। शेष दो रचनाओं का विषय भक्ति है। इन हस्तलेखों में रचना-काल और लिपि-काल नहीं है। कवि जाति के कायस्थ तथा गाधीपुर (गाजीपुर) निवासी थे। इनके पिता का नाम धारमदास और गुरु का नाम मलूकदास था। ये औरंगजेब के समकालीन थे। संभवतः शिवनारायण स्वामी के गुरु दुखहरण ये ही हैं।

प्रस्तुत खोज में रतनरंग का 'छिताई चरित' नामक ग्रंथ मिला है, जिसमें अलाउद्दीन द्वारा देवगिरि की राजकुमारी छिताई के अपहरण की कथा वर्णित है। कथा ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस कथा का उल्लेख बहुत पहले से काव्यों में होता आ रहा है। 'पद्मावत' (जायसीकृत) और 'वीरसिंहदेवचरित (केशवकृत) में भी यह नाम मिलता है। रचना काल नहीं दिया, पर लिपि-काल संवत् १६८२ होने से इसकी प्राचीनता प्रकट होती है। सूफी-धारा से भिन्न भारतीय पद्धति

पर प्रेमाख्यानक काव्यों की एक धारा बहुत पहले से बह रही थी; इसका प्रमाण 'छिताई-चरित' से भी मिलता है। लेखक का वृत्त अप्राप्त है।

रीति-ग्रंथकार

रीति-ग्रंथकारों में से लाल या नेवजीलाल दीक्षित और श्रीधर-मुरलीधर प्रमुख हैं। लाल या नेवजीलाल दीक्षित ने नायिका-भेद विषयक 'विक्रमविलास या नवरस' ग्रंथ लिखा। प्रस्तुत खोज में इसकी दो प्रतियाँ मिली हैं, जिनमें से एक पूर्ण है और दूसरी अपूर्ण। एक में केवल लिपि-काल मिलता है, जो संवत् १८७२ है, दूसरी में रचना-काल और लिपि-काल दोनों हैं, जो क्रमशः संवत् १६४० और संवत् १७२१ हैं। रचयिता किसी विक्रमसाहि राजा के आश्रित थे, जिनके बड़े भाई का नाम भूपतिसाहि, पिता का नाम खेमकरण और पितामह का मल्लकल्याण था। इन्होंने अपने अन्य दो ग्रंथों का भी उल्लेख किया है, जिनके नाम 'कथा माधवानल' और 'नाटक ऊषाहार' हैं।

श्रीधर मुरलीधर ने संस्कृत-ग्रंथ 'चंद्रालोक' और 'कुवलयानंद' के आधार पर संवत् १७६७ में 'भाषाभूषण' नामक अलंकार-ग्रंथ रचा। इसकी शैली महाराज जसवंतसिंहकृत 'भाषाभूषण' की सी ही है। हस्तलेख में लिपि काल नहीं है। कवि के आश्रयदाता नवाब मुशल्लेह खानबहादुर थे, जिनकी आज्ञा से प्रस्तुत ग्रंथ बना। ग्रंथ में इन्होंने अपने नामों का उल्लेख जिस प्रकार किया है, उससे ये अलग अलग व्यक्ति नहीं, एक ही व्यक्ति ज्ञात होते हैं।

कुछ अन्य नवीन कवि

कुछ अन्य नवीन कवियों में से गोपाल या जनगोपाल और लखनसेनि उल्लेखनीय हैं। गोपाल या जनगोपाल का 'रासपंचाध्यायी' ग्रंथ मिला है, जो काव्य की दृष्टि से श्रेष्ठ है। रचना-काल संवत् १७५५ वि० है तथा लिपि काल संवत् १८८१ वि०। रचयिता का परिचय अज्ञात है।

लखनसेनि की विप्रलंभ शृंगार विषयक रचना 'कान्ह की बारह-मासी या बारहमासा' मिली है, जिसकी दो प्रतियों के विवरण लिए गए हैं। लिपि-काल एक प्रति में है जो संवत् १७८६ वि० है। रचना सरस है। भाषा में पूर्वीपन का मिश्रण है।

ज्ञात रचनाकार

संत

संतों में से धरनीदास और नवनिधिदास उल्लेखनीय हैं। धरनीदास के निम्नलिखित छह ग्रंथों के विवरण लिए गए हैं—

(१) धरनीदास जू को संकटमोचन—रचना-काल अज्ञात। लिपि-काल संवत् १८३८ वि०। विषय—प्राचीन तथा अर्वाचीन भक्तों का गुण-गान। ग्रंथ भीखासाहब के 'रामसहस्रनाम' के साथ एक ही हस्तलेख में है।

(२) महराई गोसाईं धरनीदास—रचना-काल तथा लिपि-काल अज्ञात। विषय—आध्यात्मिक कथा। यह बहुत उत्तम रचना है। 'महराई' का अर्थ महत्ता है।

(३) उधवाप्रसंग—रचना-काल और लिपि-काल अज्ञात। विषय—आध्यात्मिक ज्ञान-वर्णन। उधवा एक स्थानीय गीत विशेष है। ग्रंथ के साथ पद भी हैं।

(४) पद—रचना-काल तथा लिपि काल अप्राप्त। विषय—भक्ति और ज्ञानोपदेश। ये पद उधवा प्रसंग के साथ एक ही हस्तलेख में हैं।

(५) बोधलीला—रचना-काल तथा लिपि-काल अप्राप्त। विषय—भक्ति और ज्ञानोपदेश।

(६) ककहरा—रचना-काल तथा लिपि काल अप्राप्त। विषय—अक्षरक्रम से चौपाइयाँ रचकर ज्ञानोपदेश।

रचयिता के संबंध में इतना ही मिलता है कि ये विनोदानंद के शिष्य थे, जैसा प्रथम रचना में लिखा है। परंतु श्रावण, संवत् १९९४ के 'कल्याण' के 'संत अंक' में निकले श्री परशुराम चतुर्वेदी एम० ए०, एल-एल० बी० के 'बाबा धरनीदास जी' नामक लेख से पता चलता है कि ये जाति के कायस्थ थे। जिला सारन (बिहार प्रांत) के माँझी गाँव के रहनेवाले थे। अपने पिता का मृत्यु-संवत् इन्होंने १७१३ वि० दिया है, अतः यही इनका समय भी निश्चित होता है। इनकी गुरु-परंपरा भी मिलती है।

नवनिधिदास बाबा की 'मंगलगीता' महत्त्वपूर्ण रचना है, जिसकी एक अपूर्ण प्रति खोज में मिली है। इसमें वर्णित विषयों के नाम कवित्त गंगा जी के, कृष्ण पुकार, ककहरा, पद, फगुआ, बारहमासा, सिद्धांत, रामखेलावन वाक्य आदि हैं। अंतिम विषय 'रामखेलावन वाक्य' रचयिता और उनके पुत्र रामखेलावन के संवाद के रूप में है। रचना-काल संवत् १९०५ वि० और लिपि-काल संवत् १९७४ वि० है। रचना अधिकांशतः पूर्वी भाषा में है; तथा 'घांटो' जैसे स्थानीय गीत को अपनाया गया है। रचयिता का परिचय ग्रंथ से नहीं मिलता। पर ग्रंथ-स्वामी द्वारा (जो इन्हीं के वंशज हैं) ज्ञात हुआ कि ये जाति के कायस्थ और लखौलिया ग्राम (जिला बलिया) के रहनेवाले थे। नवनिधिदास बाबा के गुरु जनकराम (रामचंद्र) थे, जिनकी रची 'चरणचंद्रिका' उच्च कोटि की रच-

नामों में से है।[1] खोज रिपोर्ट (अ—११२) में उल्लिखित नवनिधिदास भी प्रस्तुत रचयिता ही हैं। उसमें इनको कबीर का अनुयायी कहा है, जो ठीक नहीं। ये सगुणोपासक थे; यद्यपि निर्गुण भक्ति संबंधी रचनाएँ भी लिखीं।

रीति-ग्रंथकार

रसानंद—का नायिका-भेद विषयक विशाल ग्रंथ 'बृजेंद्रप्रकाश' मिला है। इसका रचना-काल संवत् १८६१ और लिपि काल संवत् १९१६ वि० है। रचयिता ब्रज-मंडल में गंगा-यमुना के बीच स्थित विश्वपुर गाँव के निवासी थे, जो कौशिक मुनि का स्थान कहा जाता है। भरतपुर के महाराज बलवंतसिंह के ये आश्रित थे। अनुमानतः रचयिता के गुरु का नाम श्रीगोपाल था।

सेवक या सेवकराम के निम्नलिखित दो ग्रंथों के विवरण लिए गए हैं—

(१) बागविलास—अपूर्ण प्रति, रचना-काल तथा लिपि-काल अज्ञात। विषय—काशी में महाराज हरिशंकर (काशी नरेशों के वंशज) द्वारा लगाए गए एक बाग का विस्तृत, भव्य और मनोरंजक वर्णन। ये उक्त नरेश के आश्रित थे।

वाग्विलास—खंडित प्रति। रचना-काल तथा लिपि-काल अज्ञात। विषय नायिका-भेद। यह पहले खोज रिपोर्ट (२३—३८३) में आ गया है। इसमें विषय स्पष्ट करने के लिये ब्रजभाषा का आश्रय भी लिया है। खोज रिपोर्ट (६ ई० सं० २८६) में इन्हें देवकीनंदनसिंह के आश्रित कहा है, जो भूल है। उक्त रिपोर्ट में इनके 'बरवा नखसिख' का उल्लेख है। इन्होंने अपने आश्रयदाता हरिशंकर द्वारा सं० १९१३ वि० (सन् १८५७ ई०) के गदर में अँगरेजों की सहायता करने का उल्लेख किया है। इससे निश्चित है कि ये इस समय वर्तमान थे। 'वाग्विलास' में इन्होंने ठाकुर, धनीराम, शंकर और मान के कवित्त सवैये भी दिए हैं। ग्रंथांत में अपने समसामयिक बहुत से कवियों का नामोल्लेख किया है।

कुछ अन्य रचनाएँ

अज्ञातनामा लेखकों की रचनाओं में से 'कामरूप का किस्सा' उल्लेखनीय है। रचना-शैली तथा मंगलाचरण में अल्लाह की वंदना होने से यह किसी मुसलमान लेखक की रचना जान पड़ती है। इसमें अवध के राजकुमार कामरूप और सरनद्वीप की राजकुमारी कामकला की प्रेम-

(देखिए पृष्ठ १७४)

१—आचार्य रामचंद्र शुक्ल कृत हिंदी-साहित्य का इतिहास, प्रवर्द्धित संस्करण, पृष्ठ ४०१।

समीक्षा

धूपछाँह—रचयिता-श्री दिनकर। प्रकाशक-आर० सिंह। प्राप्ति-स्थान-उदयाचल, पटना। मूल्य १।)।

'धूपछाँह' श्री दिनकर द्वारा रचित और अनूदित प्रायः बालोपयोगी कविताओं का संग्रह है। कवि के ही शब्दों में इसमें 'धूप कम और छाया अधिक है।' अर्थात् मौलिक रचनाएँ कम और अनूदित अथवा दूसरे कवियों की रचनाओं के अनुकरण पर लिखित रचनाएँ अधिक हैं। जिनकी रचनाओं के अनुकरण पर कुछ रचनाएँ हैं उनके नाम ये हैं—सर्वश्री रवींद्रनाथ ठाकुर, सरोजिनी नायडू, गाड्फ्रे, सत्येंद्रनाथ दत्त, राबर्ट सदी, अकबर, लांगफेलो आदि। स्मरण यह रखना है कि इनमें अनुकरण ही किया गया है, कविताएँ मौलिक कविताओं से कम मार्मिक नहीं हैं। अनुकृत रचनाओं में प्रायः ऐसी ही हैं जिनमें समाज के विषम जीवन के चित्र हैं। 'बच्चे का तकिया' नामक कविता में असहाय बच्चों के चित्र देकर उनके सुख के लिये भगवान् से प्रार्थना है। इसी प्रकार 'दो बीघा जमीन' में स्वस्थान का प्रेम तथा जमींदारों की ज्यादती का मार्मिक चित्र है। 'कवि का मित्र' और नींद' व्यंग्य तथा हास्यपूर्ण रचनाएँ हैं। इस प्रकार अनुकृत और अनूदित रचनाओं में बालकों के हृदय और मन को उत्साहित और परिष्कृत करने की प्रभूत प्रेरणा है।

मौलिक रचनाएँ भी इसी ढंग की हैं, जिनमें कर्म-क्षेत्र में उतरने की पूरी प्रेरणा है। शक्ति और सौन्दर्य' नामक कविता में एक स्थान पर कहा गया है—

> जीवन का वन नहीं सजा जाता कागज के फूलों से,
> अच्छा है, दो पाट इसे जीवित बलवान बबूलों से।

'कैंची और तलवार' में मार्मिक ऐतिहासिक इतिवृत्त द्वारा अपने देश और अपनी जाति के मर्यादा पालन के लिये प्रेरित किया गया है। 'पुस्तकालय' नामक कविता का लक्ष्य है पुस्तकालय की महत्ता स्थापित कर इस ओर बालकों को आकृष्ट करना। 'धूपछाँह' की रचनाओं द्वारा बालकों का पूरा मनोरंजन और उपकार होगा, इसमें संदेह नहीं।

इन कविताओं की भाषा और अभिव्यंजना-शैली सीधी-सादी और चलती होने के कारण बालकों के लिये बोधगम्य है। 'पानी की चाल', 'कवि का मित्र' तथा 'नींद' कविताएँ हैं तो अनूदित और अनुकृत ही, परंतु इनमें श्री दिनकर की हास्य, व्यंग्य और विनोद की शिष्ट और प्रसन्न वृत्ति के दर्शन होते हैं। यदि इस क्षेत्र में वे कुछ विशेष कार्य करें तो हिंदी-काव्य की वह परंपरा अक्षुण्ण रहे जिसकी स्थापना श्री निराला ने अपनी व्यंग्यात्मक कविताओं द्वारा की है।

—विश्वनाथ

दो दिवंगत साहित्यकार

अत्यंत शोक के साथ लिखना पड़ता है कि हिंदी-साहित्य पर से अभी तक क्रूर काल की दृष्टि नहीं हटी। कुछ ही दिन हुए श्री श्यामबिहारी मिश्र और श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' भी हमारे बीच नहीं रहे।

ये दोनों साहित्यकार हिंदी के आधुनिक काल के उन साहित्यकारों में से थे जिन्होंने हिंदी-भाषा और साहित्य की स्थापना और संवर्द्धना में पूर्ण योग दिया। भारतेंदु-युग के पश्चात् हिंदी-भाषा और साहित्य को समृद्ध करनेवालों में से ये प्रमुख हैं। इनकी विशेषता यह रही कि इन्होंने भाषा और साहित्य के सभी अंगों की पुष्टि में हाथ बँटाया, अर्थात् इन्होंने कविता, नाटक, कथा, निबंध, आलोचना आदि सभी क्षेत्रों में थोड़ा बहुत कार्य किया। हिंदी-भाषा और साहित्य के प्रचारात्मक पक्ष को भी इन लोगों ने सुदृढ़ किया। साहित्य के सभी क्षेत्रों में कार्य करते हुए भी इन लोगों ने उसके कुछ विशिष्ट क्षेत्रों को अधिक समृद्ध किया। श्री श्यामबिहारी मिश्र ने हिंदी के इतिहास तथा उसकी आलोचना के क्षेत्र को विशेष पुष्ट किया और श्री हरिऔध ने उसके काव्य-क्षेत्र को।

हिंदी-साहित्य के इतिहास की सामग्री प्रस्तुत करने का कार्य आधुनिक काल में श्री श्यामबिहारी मिश्र (मिश्रबंधुओं में से एक) ने किया। 'मिश्र-बंधु-विनोद' में हिंदी के प्राचीन कवियों का इतिवृत्त एक स्थान पर प्रस्तुत कर इन्होंने साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करने के लिये सामग्री का चयन कर दिया। इसके द्वारा कुछ लुप्त कवियों का भी उद्घाटन हुआ। निस्संदेह कहा जा सकता है कि हिंदी-साहित्य के इतिहास के निर्माण के लिये जितने प्रमुख तत्वों की आवश्यकता थी उन सभी को इन्होंने एकत्र किया। काशी नागरीप्रचारिणी सभा के खोज-विभाग में भी आपने कई वर्षों तक काम किया और इसके द्वारा भी इतिहास की प्रभूत सामग्री सुलभ की।

हिंदी-साहित्य में आलोचना का आधार स्थापित करनेवालों में से श्री श्यामबिहारी मिश्र भी एक हैं। आलोचना के क्षेत्र में इनके कार्यों का महत्त्व समय की दृष्टि से आँकना चाहिए। इस क्षेत्र में जब आपने कार्य आरंभ किया था तो बहुत थोड़ा कार्य हुआ था, आपने आलोचना के कार्य को आगे बढ़ाया। 'हिंदी-नवरत्न' में हिंदी के प्रमुख नौ कवियों को संमुख लाकर आपने आलोचना के क्षेत्र में विचार-विमर्श की सामग्री प्रस्तुत की।

जैसे मिश्र जी ने हिंदी के इतिहास और उसकी आलोचना के आधार की स्थापना और संवर्द्धना की वैसे ही श्री हरिऔध ने आधुनिक हिंदी-काव्य के आधार की। आधुनिक काल में श्री हरिऔध ही ऐसे कवि हुए जिन्होंने इसके सभी युगों की गतिविधि देखी और उनमें कार्य भी किया। अभिप्राय यह कि भारतेंदु-युग से काव्य-रचना का आरंभ कर इन्होंने प्रगतिवाद-युग (यदि चलते युग को यह नाम दिया जा सके) तक निरंतर इसे चालू रखा। यहाँ इसका भी स्मरण रखना चाहिए कि इन्होंने सभी युगों के काव्य-विषय तथा उसकी शैली के अनुसार रचना प्रस्तुत की। यही कारण है कि ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों के काव्यों की रचना में आप तत्पर दिखाई पड़ते हैं। आधुनिक काल के सभी युगों की शैलियों में भी आपने काव्य-रचना की।

आपके 'प्रियप्रवास' का महत्त्व आज भी कम नहीं हुआ है। इसकी रचना आपने उस समय की जब कुछ लोगों को खड़ी बोली हिंदी में महाकाव्य की रचना होने में संदेह था। इस पर विशेषता यह कि यह सारा काव्य वर्णिक वृत्तों में लिखा गया।

भाषा-प्रयोग में भी आप अपने क्षेत्र में एक ही दिखाई पड़ते हैं। आपने यह दिखा दिया कि सिद्ध कवि 'प्रियप्रवास' की भाषा भी लिख सकता है और 'बोलचाल' की भाषा भी।

इन दोनों साहित्यकारों ने 'सभा' के प्रति अपनी कृपा-दृष्टि बराबर बनाए रखी। इन लोगों ने अनेक दृष्टियों से 'सभा' का पोषण किया, जिसके लिए वह इनकी कृतज्ञ है।

हम इन साहित्यकारों के शोकसंतप्त परिवारों के साथ समवेदना प्रकट करते हुए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वह इनकी दिवंगत आत्मा को सद्गति दे।

(पृष्ठ १७१ का शेष)

कथा का सरस वर्णन है। रचना-काल और लिपि काल अज्ञात है। प्रेम की महत्ता दिखाते समय रचयिता ने सुप्रसिद्ध प्रेमी व्यक्तियों में अवध के नवाब को भी रखा है। संभवतः संकेत वाजिदअलीशाह की ओर है। यदि यह ठीक है तो रचना वाजिदअलीशाह के समय में अथवा उनके बाद लिखी गई होगी। इसकी भाषा फारसीमिश्रित खड़ी बोली है। इसमें भारतीयता निभाई गई है। कुछ छंद फारसी के ढंग के हैं।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

[नवीन संस्करण]

वर्ष ५१, संवत् २००२

संपादक

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

सहायक

शिवनाथ

वार्षिक विषय-सूची